पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन

लेखक
डॉ. पी. सी. जैन
जैन-अनुशीलन केन्द्र,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

पुरोवाक्
प्रो० आर० सी० द्विवेदी
प्राचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

भूमिका
डॉ० के० सी० कासलीवाल
निदेशक
महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

देवनागर प्रकाशन जयपुर

पुरोवाक्

डॉ० पी. सी. जैन, जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय ने आठवीं शताब्दी के जिनसेनाचार्य के 'हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन' इस शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत किया है। आगमों में सूत्ररूप में समाविष्ट सिद्धान्तों का सुबोध शैली में पल्लवन पुराण-साहित्य का मूल उद्देश्य है। वैदिक परम्परा के पुराणों को भी यही अभिप्रेत था। इसलिये 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' की मान्यता प्रचलित है। इस तात्विक दृष्टि के बावजूद भी पुराणों में निरन्तर विकासमान धार्मिक चिन्तन का इतिहास तत्कालीन परिवेश एवं आचार-विचार के सन्दर्भ में समाहित है। स्वभावतः पुराणों का अध्ययन केवल सैद्धान्तिक विवेचन तक सीमित न होकर समाज के सांस्कृतिक आयामों का और उसके इतिहास का भी दस्तावेज है। पारम्परिक मूल दृष्टि में अन्तर होने पर भी समाज एवं संस्कृति के प्रतिबिम्बन की दृष्टि से सभी पुराण भारत के प्राचीन इतिहास की अमूल्य निधि हैं। डॉ० जैन ने अपने बहु-आयामी अध्ययन में संस्कृति के विभिन्न पक्षों को तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। आदर्शों एवं मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में पुराणकारने विभिन्न पात्रों, घटनाओं एवं कथाओं की सृष्टि की है। इस प्रयोजन की सर्वतोग्राह्य चरितार्थता के कारण वह प्राचीन की पुनरावृत्ति में झिझका नहीं है। वस्तुतः उसका उद्देश्य एवं समर्पण आदर्श की प्रतिष्ठा एवं प्रचार पर अधिक है, स्वयं के कवित्व को उजागर करने में नहीं है। भारत के पुराण-साहित्य ने ही निगम-आगम की घटती महत्ता के संदर्भ में नवीन धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना के साथ समन्वय स्थापित करने में सेतु का काम किया है। सौभाग्य की बात है कि इस ओर विद्वानों का ध्यान जा रहा है। उसी का प्रतिफल डॉ० जैन का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध है। मुझे विश्वास है कि विद्वज्जन इस ग्रन्थ का स्वागत करेंगे तथा भारतीय साहित्य के अध्ययन में इसका अवदान महत्त्वपूर्ण प्रमाणित होगा।

रामचन्द्र द्विवेदी
प्रो० संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

OPINION

It is highly gratifying to commend to the indologists the 'Harivamsa' Purana Ka Sanskrtika Adhyayana' by Dr. Prem Chand Jain. It is a valuable contribution to indological studies in so far as it presents a cultural study of a Jain Purana, an area which has not hitherto been paid sufficient attention. I am confident the present work by Dr. P. C. Jain will give an inspiration to others to undertake the study of other Jain Puranas in relation to the Hindu and Bauddha Puranas and to ascertain their comparative merits from the cultural and historical points of view in particular. Dr. Prem Chand has spared no pains to make his study as comparative, critical and analytical as possible. He has given evidence of his deep insight into Jain culture by solving various intricate observations made by the author of the Purana, Jinasena. Observations made by Dr. P. C. Jain are fairly impartial. I congratulate Dr Jain on presenting this thesis to the scholarly world. I am confident it will find due appreciation from scholars.

—S. K. Gupta
Retd. Professor of Sanskrit
Rajasthan University
Hony. Director, Bharati Mandir
Anusandhana Shala & Vaidika
Shoda Samsthana & Editor
Bharati Sodha Sara Sangraha.

प्रस्तावना

प्राकृत के समान संस्कृत भाषा में भी जैनाचार्यों ने विशाल साहित्य की संरचना की है। कोई ऐसा विषय नहीं है जिस पर उन्होंने अपनी लेखनी नहीं चलायी हो। धर्म, सिद्धान्त, आचार, स्तोत्र एवं पूजा पाठ के अतिरिक्त काव्य, पुराण, दर्शन, अध्यात्म एवं कथा साहित्य के विकास में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यही नहीं ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित एवं मंत्र–शास्त्र जैसे सार्वजनिक/लौकिक विषयों पर भी जैन सन्तों ने खूब लिखा है। राजस्थान, मध्यप्रदेश, देहली, गुजरात एवं उत्तर-प्रदेश के जैन मन्दिरों में स्थापित ग्रंथागारों में विभिन्न विषयों की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है लेकिन राजस्थान के शास्त्र भण्डारों को छोड़कर अधिकांश शास्त्र भण्डारों के अभी सूचीकरण का कार्य भी नहीं हो सका है। यद्यपि गत 50 वर्षों से विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से ग्रन्थों के सूचीकरण की दिशा में सतत् प्रयास जारी हैं लेकिन सामग्री की प्रचुरता के कारण अभी बहुत से ऐसे ग्रंथागार हैं जिनका प्रारम्भिक सर्वे भी नहीं हो सका है। राजस्थान में कुचामन, प्रतापगढ़ के महत्व-पूर्ण शास्त्र भंडार भी अनदेखे पड़े हैं। मध्यप्रदेश एवं उत्तरप्रदेश के शास्त्र भण्डारों की जानकारी अभी नहीं के बराबर है। इन शास्त्र भण्डारों में संस्कृत भाषा के सैंकड़ों हजारों ग्रंथ संग्रहीत है जिनके आधार पर साहित्यिक जगत् के ही नहीं किन्तु इतिहास, संस्कृति एवं कला के भी नये पृष्ठ खुल सकते हैं तथा जिनका अध्ययन भारतीय साहित्य के लिये एक महत्वपूर्ण उपलब्धि सिद्ध हो सकती है।

जैन विद्या के मनीषियों ने प्राकृत एवं अपभ्रंश की अपेक्षा संस्कृत में पुराण साहित्य अधिक लिखा है। यही नहीं जैन समाज में पुराण विषयक संस्कृत ग्रंथ भी अधिक लोकप्रिय रहे हैं। गत पन्द्रहसो वर्षों में जितना उनका स्वाध्याय एवं पठन-पाठन हुआ है उतना किसी अन्य विषय के ग्रंथों का नहीं हो पाया है। पुराण साहित्य प्रथमानुयोग के अन्तर्गत आता है जिसमें तिरेसठ शलाकापुरुषों एवं अन्य पुण्यात्मा

जीवों का वर्णन मिलता है। वैसे तो पुराण संज्ञक रचनायें विभिन्न नामों से उपलब्ध होती हैं लेकिन महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण एवं पाण्डवपुराण इनके प्रमुख रूप हैं। इन चारों पुराणों मे अन्य सभी पुराणों का समावेश हो जाता है। महापुराण के आदिपुराण एवं उत्तरपुराण ये दो भाग हैं। काव्य, चरित, कथा एवं नाटक जैसी अथवा चरित प्रधान कृतियों का मूल स्रोत इन्हीं पुराणों मे उपलब्ध होता है। इसीलिये ये पुराण जैनाचार्यों के लिये काव्य रचना के प्रमुख माध्यम रहे हैं। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी एवं हिन्दी सभी भाषाओं में पुराण ग्रंथ उपलब्ध होते हैं लेकिन संस्कृत भाषा में सबसे अधिक पुराण ग्रंथ लिखे गये हैं। इनमें से कुछ प्रमुख पुराणों के नाम निम्न प्रकार है—

1	आदिपुराण	जिनसेनाचार्य
2	,,	अरुणमणि
3	उत्तरपुराण	गुणभद्राचार्य
4	पद्मपुराण	रविषेणाचार्य
5	,,	भट्टारक सोमसेन
6	,,	धर्मकीर्ति
7	पाण्डवपुराण	ब्र० जिनदास
8	,,	भट्टारक शुभचन्द्र
9	मुनिसुव्रतपुराण	ब्र० कृष्णदास
10	विमलनाथपुराण	,,
11	हरिवंशपुराण	जिनसेनाचार्य
12	,,	ब्र० जिनदास
13	,,	पं० नेमिदत्त
14	,,	भट्टारक श्रीभूषण

जैन पुराण साहित्य अपने-अपने समय के विश्वकोश हैं। ये विविध कथानकों, उपकथानको के अतिरिक्त तत्कालीन संस्कृति, सामाजिक स्थिति, राजनीतिक एवं आर्थिक पक्ष का परिचय प्राप्त करने के लिये अच्छे सदर्भ ग्रंथ है। उनके वर्णन मे लालित्य एवं भाषा में सौष्ठव होता है इसलिये पाठक जब उन्हें पढने लगता है तो उसे पूरा पढे बिना आत्मसंतोष नहीं होता। उन पुराणों में तत्कालीन रहन-सहन, रीति-रिवाज, जातिव्यवस्था एवं जीवनस्तर के सम्बन्ध में भी पर्याप्त सामग्री मिलती है। वे पुराण नाम से तो प्रसिद्ध हैं ही किन्तु वे काव्यग्रंथ भी हैं जिनमें जन्म, मृत्यु, विवाह, सन्तानोत्पत्ति, जलक्रीडा, वनक्रीड़ा, विरह, मिलन युद्ध एवं शान्ति आदि सभी वर्णन मिलते हैं, जिन्हें पढ कर पाठक आनन्द विभोर हो जाता

है। वास्तव में जैन पुराण पुराण तो हैं ही किन्तु उनमें जैन वाङ्मय से सम्बन्धित विविध विषयों का वर्णन भी सरल एवं सुगम्य भाषा में किया गया है। इसलिये एक ही स्थान पर विविध विषयों का वर्णन करना जैन पुराणों की अपनी विशेषता है। और इसी के कारण वे समाज में लोकप्रिय एवं समादृत हैं।

जैन पुराण साहित्य में हरिवंश पुराण का विशिष्ट स्थान है। जिनसेनाचार्य द्वारा निबद्ध हरिवंशपुराण सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ है जिसका पठन-पाठन अबाधगति से चलता है। इसमें वर्णित लोकवर्णन यद्यपि त्रिलोकप्रज्ञप्ति से अनुप्राणित है लेकिन वह एक प्रकार से स्वतन्त्र वर्णन बन गया है, जिससे उसने एक स्वतन्त्र ग्रंथ का रूप धारण कर लिया है। पुराण के तीन सर्ग पूर्ण रूप से लोकवर्णन के लिये आवंटित कर दिये गये हैं। लोक का इतना विशद एवं सरल शब्दों में वर्णन आचार्य जिनसेन के प्रबल पांडित्य की ओर स्पष्ट संकेत है। इसके अतिरिक्त सात तत्वों, षट् द्रव्यों आदि का भी अच्छा वर्णन हुआ है।

हरिवंशपुराण अपने समय का एक विश्वकोश है जिसमें सभी प्रश्नों का उत्तर खोजा जा सकता है। वास्तव में आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण की रचना करके आगे होने वाले सभी आचार्यों एवं मनीषियों के लिये ग्रंथ निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यही कारण है कि जिनसेन के उत्तरकालीन सभी मनीषियों ने हरिवंशपुराण के वर्णन को प्रमाण मान कर उसकी छोटी छोटी कथाओं को अपनी अपनी कृतियो में पल्लवित किया है इसलिये जिनसेन ने तो इस साहित्यिक क्षेत्र के लिये मार्गदृष्टा का कार्य किया है। आचार्य जिनसेन इतिहास के भी मनीषी थे इसलिये हरिवंश पुराण में इतिहास की विलुप्त परतों को खोला गया है। पुराण में ग्रंथ एवं नगरों का उल्लेख, राज्यों की सीमाओं का वर्णन, शासकों का नामोल्लेख जैसे स्थल हमारे विलुप्त इतिहास की कड़ी को ढूंढ निकालने के लिये पर्याप्त हैं। जिनसेन ने भगवान महावीर के निर्वाण के दिन की स्मृति में दीपावली अथवा दीपमालिका उत्सव मनाने का जो उल्लेख किया है वह भी दीपमालिका उत्सव के इतिहास पर प्रकाश डालता है।

डा० प्रेमचन्द्र जी जैन ने "हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन" जैसे विषय को अपने शोध-प्रबन्ध का विषय बना कर एवं शोध प्रबन्ध में हरिवंशपुराण की संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का जो गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है उनका यह प्रयास अत्यधिक प्रशंसनीय है। डा० जैन एक उदीयमान विद्वान् हैं, तथा जैन साहित्य के कितने ही विलुप्त तथ्यों को उजागर करने में लगे हुए हैं। 'हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन' भी उसी प्रयास का एक सुफल है। यद्यपि "हरिवंशपुराण" पुराण साहित्य का महान् ग्रन्थ है उसमें दिये हुये रत्नों को प्रकाश में लाना सहज

कार्य नहीं है तथा जिसके लिये सतत साधना की आवश्यकता होती है फिर भी उन्होंने हरिवंशपुराण का विभिन्न दृष्टियों से जो सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया है वह निःसन्देह श्लाघनीय है। हरिवंशपुराण के समान ही संस्कृत, अपभ्रंश एवं राजस्थानी भाषा में निबद्ध अन्य सभी पुराणों के सांस्कृतिक अध्ययन की आवश्यकता है। आचार्य जिनसेन एवं गुणभद्र का महापुराण एवं रविषेण का पद्मपुराण के सांस्कृतिक अध्ययन में हमारे संस्कृति, सभ्यता एवं इतिहास पर एक नयी दृष्टि पड़ सकती है। इस प्रकार डा० जैन ने हरिवंशपुराण के सांस्कृतिक अध्ययन की जो परम्परा प्रारम्भ की है वह भविष्य में अन्य पुराणों के लिये भी चालू रहेगी इसी आशा के साथ मैं डा० जैन को उनके इस प्रयास के लिये हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

897, अमृत कलश
बरकत कालोनी, किसान मार्ग
टोंक फाटक, जयपुर–15.

CULTURAL STUDY OF THE HARIVANSA PURANA

By
Dr. P. C. Jain
Centre for Jain Studies
University of Rajasthan, Jaipur

With Foreword by
Prof. R. C. Dwivedi
Prof. & Head Deptt. of Sanskrit
University of Rajasthan, Jaipur

Introduction by
Dr. K. C. Kasliwal
Director
Mahaveer Granth Academy, Jaipur

Devnagar Prakashan, Jaipur

लेखक की ओर से

भारत की प्राचीनतम संस्कृति के ज्ञान के लिए जितना वैदिक-साहित्य का अध्ययन आवश्यक है उतना ही पौराणिक साहित्य का परिशीलन भी आवश्यक है। राजनीतिक इतिहास के संकलन और संदर्शन की दृष्टि से इनकी उपादेयता उतनी अधिक भले ही न मानी जाय, पर सांस्कृतिक तत्वों के संज्ञापन और सम्मार्जन में इनकी महत्ता के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता। शिष्य-प्रशिष्य के परम्परा-परिवाह के प्रणयन-परिणाम में एक ही पुराण द्वारा युग-युगान्तर की प्रवृत्तियां प्रकाशित होती हैं। इसी अवधारणा के अनुसार प्रस्तुत रचना में हरिवंशपुराण को मूल आधार बनाया गया है, तथा इसमें अनुस्यूत धर्म, दर्शन एवं समाज से सम्बन्धित तत्वों का वर्णन किया गया है। यद्यपि "हरिवंशपुराण" धार्मिक ग्रन्थ है, जिसमें जन-सामान्य के विविध रीतिरिवाजों एवं विश्वासों का तथा जैन-धर्म के धर्म, दर्शन और विश्वासों का वर्णन है, साथ ही इसमें अनेक लौकिक विषयों का भी समावेश है। जिनसे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं दार्शनिक परिस्थितियों का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसा होते हुए भी इस ग्रन्थ के आधार पर प्राचीन भारतीय संस्कृति का सांगोपांग एवं विस्तृत अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। प्रस्तुत कृति इस अभाव की पूर्ति का एक प्रयास है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में विभिन्न विषयों का विवेचन ग्यारह अध्यायों में किया गया है। प्रथम अध्याय का विषय पुराण विवेचन है। इसमें पुराण शब्द की व्युत्पत्ति, लक्षण तथा पुराण संख्या का समावेश है। द्वितीय अध्याय जिनसेनाचार्य : व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बन्धित है। इसमें प्रकृत जिनसेन आदिपुराणकार जिनसेन से भिन्न थे, रचना काल, रचना-स्थान एवं पुराण का वर्ण्य विषय बताया गया है। तीसरे अध्याय में जैनपुराण साहित्य और उसमें प्रस्तुत पुराण का स्थान तथा इस विषयक अन्य रचनाओं का नामोल्लेख किया गया है। चौथा अध्याय संस्कृति से सम्बन्धित है। पांचवें अध्याय में सामाजिक जीवन छठे में राजनैतिक जीवन, सातवें में आर्थिक जीवन, आठवें में धार्मिक जीवन, नवें में पुराणागत पात्रों का चरित्र चित्रण, दशवें में दार्शनिक तत्व तथा ग्यारहवें में भारतीय संस्कृति को

हरिवंशपुराण का योगदान से सम्बन्धित है। विषय का संक्षिप्त ज्ञान कराने के लिए अन्त में निष्कर्ष भी दिया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध लिखने में हरिवंश पुराण के प्रामाणिक संस्करण पण्डित दरबारीलाल न्यायतीर्थ द्वारा सम्पादित माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित एवं हरिवंश पुराण भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाशित को आधार बनाया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य विद्वान् लेखकों की कृतियों से भी सहायता ली गई है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध डा० सुधीर कुमार गुप्त पूर्व विभागाध्यक्ष एवं प्रोफेसर संस्कृत विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। आदरणीय डॉ० गुप्त सा० वैदिक एवं जैन साहित्य के अधिकारी विद्वान् हैं। आपकी अनवरत साहित्य सेवा आदर्श स्वरूप है। आपकी सतत प्रेरणा, अनुभवजन्य मार्ग-दर्शन, स्नेह एवं सौजन्य से ही यह ग्रन्थ इस रूप में प्रस्तुत हो सका है। मैं आपका अनुग्रहित एवं कृतज्ञ हूं।

डा० रामचन्द्र द्विवेदी (प्रो० संस्कृत विभाग एवं निदेशक जैन अनुशीलन केन्द्र राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर) का तो मैं पूर्व से ही ऋणी हूं, क्योंकि इन्होंने पूर्व प्रकाशित (A Descriptive Catalogue of Mss. In the Bhattarkiya Granth Bhandar Nagaur) पर Foreword लिख कर मुझे अनुग्रहित किया था और वर्तमान ग्रन्थ पर भी पुरोवाक् लिखने का कष्ट किया है। अतः डा० द्विवेदी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपना कर्तव्य मानता हूं।

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल निदेशक श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी ने पुस्तक की प्रस्तावना लिखी है। आप जैन साहित्य एवं इतिहास के खोजी एवं मर्मज्ञ विद्वान् हैं। जैन साहित्य एवं इतिहास का जितना ठोस और तथ्यपूर्ण अनुसन्धानात्मक कार्य इन्होंने किया है आनुपातिक दृष्टि से उतना और वैसा कार्य कदाचित् अन्य मनीषियों ने नहीं। आपकी विश्वसनीय प्रेरणा, सौजन्यपूर्ण सहयोग, अनुभवजन्य उचित मार्ग दर्शन एवं वात्सल्यभाव सदा रहा है। आपकी महती कृपा वाचामगोचर है।

पुराणजगत् के आधुनिक प्रसिद्धतम विद्वान् उच्चस्तरीय अध्ययन अनुसंधान संस्थान के निदेशक प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिनकी प्रेरणा एवं अनुमति से मैं इस कार्य में प्रवृत हुआ। मैं उन ऋषिमहर्षियों एवं विद्वानों के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जली समर्पण करता हूं जिनके साहित्य का मैंने इस ग्रन्थ में निःसंकोच

भाव से उपयोग किया है। मेरी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रकला जैन B. A. LL. B. जिन्होंने इस कार्य को पूरा कराने में मेरे साथ अथक परिश्रम किया और अनगिनत कष्ट प्रसन्नता से सहन किये उनके प्रति कुछ न कहकर ही सब कुछ कहा जा सकेगा। अन्त में देवनागर प्रकाशन चौड़ा रास्ता जयपुर के उदारमना मित्र युगल श्री मनमोहन जी और पवनकुमार जी जैन को हार्दिक धन्यवाद प्रदान करना मेरा उचित कर्तव्य हो जाता है, क्योंकि इन्होंने पूरी तत्परता के साथ पुस्तक के मुद्रण-प्रकाशन में प्रयास किया है। मनुज कम्पोजिटर सेन्टर के कर्मचारिगण ने भी पुस्तक के मुद्रणकार्य में निष्कपट भाव से श्रम किया है, अतः वे भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रेमचन्द जैन
2151 हैदरी भवन
मणिहारों का रास्ता,
जयपुर–302003

— —

विषय-सूची

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

एकादश अध्याय

— —

प्रथम अध्याय

पुराण : विवेचन

पुराण शब्द का व्युत्पत्तिपरक विवेचन :—

पौराणिक वाङ्मय मे ऐसे पद और वाक्यो का व्यवहार किया गया है जिनसे व्यक्त होता है कि नवीन प्रवृत्तियो का समाहार होते हुए भी पुराणो का अधिक बल परम्परा के सन्निवेश पर ही था। श्री बलदेव उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में ऋग्वेद मे प्रयुक्त पुराण शब्द के प्रयोग के आधार पर कहा है कि इस ग्रन्थ मे पुराण शब्द एक दर्जन से अधिक स्थानो पर मिलता है तथा वहाँ इसका अर्थ है प्राचीन, पूर्वकाल मे होने वाला।[1] पौराणिक तथा पुराणेतर साहित्यो मे पुराण शब्द की व्युत्पत्ति का भी पर्याप्त विवेचन किया गया है। वायुपुराण के अनुसार पुराण नाम इसलिये दिया जाता है कि पुराकाल मे विद्यमान था (पुरा-विद्यते इति पुराणम्)।[2] पद्मपुराण के अनुसार पुरा का अर्थ है परम्परा। परम्परा के निबन्धन को 'पुराण' की संज्ञा दी जाती है।[3] ब्रह्माण्डपुराण की व्याख्या के अनुसार 'प्राचीन काल मे ऐसा हुआ था' इस पर बल देने के कारण ही पुराण संज्ञा सार्थक होती है।[4] पुराणेतर सम्प्रदाय मे यास्क का कथन भी उल्लेखनीय है। जिनकी व्याख्या के अनुसार 'पुराण' इसलिये कहते ह कि इसमे 'पुरा' को अर्थात् परम्परा अथवा प्राचीनता को नवीन रूप प्रदान किया जाता है।[5] पुराण शब्द की इस व्याख्या को कहाँ तक सही माना जा सकता है? इसका समाधान तो उन पद और वाक्यो द्वारा होता है, जो पुराणो मे विभिन्न स्थलो पर मिलते है। इनमे 'इति नः श्रुतम्', 'इति श्रुतिः' तथा 'इति श्रूयते' अतीव महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते है। इनके समान ही कुछ प्रसगो मे स्मृत. और अनुशुश्रुमः जैसे पदो का प्रयोग भी मिलता है। इन शब्दों का अर्थ उतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना कि वे प्रसग जिनमे ये प्रयुक्त है अथवा वे मन्तव्य, जो इस माध्यम से व्यक्त किये गये है। इनका सामान्य अर्थ है 'ऐसा सुना गया है', 'ऐसा सुनते है' अथवा 'ऐसा स्मरण किया जाता है।' इनसे वर्णनीय विषय की प्राचीनता के प्रति पौराणिको का सकेत मिलता है। इनके प्रयोग और

1 बलदेव उपाध्याय पुराण विमर्श, पृष्ठ 4
2 वायुपुराण 1।203
3. पद्मपुराण 5।2।53
4 ब्रह्माण्डपुराण 1।1।176
5 निरुक्त, 4।6

व्यवहार द्वारा पौराणिकों का अभिप्राय था—अतीत की परम्परा के साथ वर्तमान-वृत्तों और सांस्कृतिक आदर्शों को समन्वित करना।

पुराण : लक्षण

कोशकारों ने पुराण का लक्षण निम्न माना है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम् ॥ (वि० पु०)

अर्थात् पुराण वह है जिसमें सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर और वंशों की परम्पराओं का वर्णन हो। इन पाँचों लक्षणों की विशद व्याख्या भागवतपुराण की पंक्तियों में उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ में सृष्टि के प्रादुर्भाव को संक्षेप मे बताते हुए, इस सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया को सर्ग की संज्ञा दी गई है। भागवत ने चार प्रकार की प्रलयों-नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक को प्रतिसर्ग माना है। वंश का तात्पर्य भूत और वर्तमान के उन राजाओं से है, जिनका सम्बन्ध ब्रह्मा से है। इस कोटि मे देव-वंशों तथा ऋषि-वंशों का वर्णन मिलता है। मन्वन्तर से कालचक्र का बोध होता है। यह वस्तुतः काल गणना का पौराणिक आधार है। प्रत्येक मन्वन्तर का सम्बन्ध मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तऋषि तथा ईश्वर के अंशावतारों मे माना जाता है। इन स्थलों मे मानवीय राजाओं का वर्णन भी मिलता है।[6] पण्डित बलदेव उपाध्याय की मान्यता है कि महर्षियों के चरित्र की अपेक्षा पुराणों मे राजाओं का ही वर्णन अधिक मिलता है।[7]

पुराण की उपर्युक्त परिभाषा अमरकोश में भी प्राप्त होती है। पर इस ग्रन्थ में इन पंचलक्षणों की व्याख्या नही दी हुई है। व्याख्या के अभाव के आधार पर आचार्य बलदेव उपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उससमय पंच-लक्षण को सार्वभौमिक लोकप्रियता प्राप्त रही होगी, अन्यथा अमरकोश में इस शब्द की व्याख्याविहीन परिभाषा का प्रयोग नही किया जाता।[8] इस निष्कर्ष के साथ इतना और जोड़ा जा सकता है कि अमरकोश के काल (चतुर्थ शताब्दी ई०) तक जितने पुराणों का संस्करण हुआ था, उनमे पाँच लक्षणों के अनुसार ही विषयों का विभाजन रहा होगा। इससे यह भी द्योतित होता है कि प्रमुख पुराणों का प्राथमिक संस्करण गुप्तकाल तक सम्पन्न हो चुका होगा। पार्जीटर की व्याख्या के अनुसार ये विषय पुराणों के प्राचीनतम वर्ण्य-विषय माने जा सकते है।[9] इनके प्रादुर्भाव और विकास

---

6 भागवत पुराण 12।7।11–16
7 बलदेव उपाध्याय : पुराण विमर्श पृष्ठ 127
8. वही, पृष्ठ 127
9 पार्जीटर · दि डाइनस्टीज आफ दि कालो एज, पृष्ठ 36

का काल पुराणों के वर्तमान रूप से बहुत पहले का माना जा सकता है।

एक प्राचीन पौराणिक विवरण के अनुसार पुराण का पाँचवां लक्षण भूमि-संस्थान का निरूपण है।[10] इससे प्रकट होता है कि भूमि-संस्थान से सम्बन्धित वर्णन भी उतने ही प्राचीन हैं जितने कि सर्ग आदि के वर्णन। अर्थात् पुराणों के प्राथमिक रूप में उपर्युक्त पाँच विषयों के अतिरिक्त अन्य भी वर्णन थे, पर प्रमुखता पाँच को ही दी जाती थी। उससे यह भी प्रतीत होता है कि पंचलक्षण पुराण-विषय का माप-दण्ड नहीं था। उससे केवल पुराणों का प्रमुख वैशिष्ट्य ही द्योतित होता था। इससे केवल पुराणों की विषयशैली ही व्यक्त होती थी, पुराण-विषयों की सीमा का निर्धारण अभीष्ट न था।

पण्डित राजेश्वर शास्त्री द्राविड़ ने पुराण पंचलक्षण की एक अतिरिक्त परिभाषा की ओर ध्यान आकर्षित किया है। यह परिभाषा पंचलक्षण की प्रचलित पौराणिक परिभाषा से भिन्न प्रतीत होती है। इसका उल्लेख कौटिल्य अर्थशास्त्र की जय-मंगला-टीका में हुआ है। व्याख्याकार ने इसका मूल किसी प्राचीन ग्रन्थ को बताया है। वह इस प्रकार है--

सृष्टि प्रवृत्ति-संहार-धर्म-मोक्ष प्रयोजनम्।
ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पंचलक्षणम् ॥[11]

उपर्युक्त श्लोक के आधार पर पण्डित बलदेव उपाध्याय कहते हैं कि धार्मिक विषयों का पुराणों में सन्निवेश प्रारम्भ से ही किया गया था। परन्तु डा० हाज़रा आदि विद्वान् पुराणों में धार्मिक विषयों का समाहार उत्तरकालीन, पुराणों के संकलन के बाद की घटना मानते है।[12]

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जयमंगला टीका में जिस ग्रन्थ को आधार माना है, उसके नाम और काल के बारे में निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वह ग्रन्थ प्राचीन है यह तो सही है, पर कितना प्राचीन है इसके विषय में हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। यह भी सम्भव है कि उक्त श्लोक की रचना उस समय हुई, जब पुराणों का अतीतकालीन स्वरूप बदल चुका था तथा वे धर्मपरक ग्रन्थ माने जाने लगे थे। स्वयं पुराण-ग्रंथों में ही इस बात का प्रमाण मिल जाता है कि जिस समय इनमें धार्मिक विषयों का समाहार हो रहा था, उस समय पंचलक्षण में भी परिवर्द्धन लाने की चेष्टा की जा रही थी। उदाहरणार्थ,

10. मत्स्यपुराण 2.22
11. (क) कौटिल्य अर्थशास्त्र 1.5
    (ख) बलदेव उपाध्याय; पुराण विमर्श, पृष्ठ 127
11. हाज़रा : स्टडिज इन दि उप-पुराणाज, पृष्ठ 53

विष्णपुराण में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर वंशानुचरित के वर्णन का विषय विष्णु का गौरवगान बताया गया है। विष्णुपुराण का यह लेख निश्चय के साथ बाद का माना जा सकता है। जिस अध्याय में इसका उल्लेख है, उसमें अट्ठारह पुराणों की भी चर्चा मिलती है, जो प्रस्तुत श्लोक के उत्तरकालीन होने को पुष्ट करती है।[13] ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष समीचीन नहीं लगता कि पुराणों की संरचना के मूल स्तर से ही इनमें धार्मिक विषयों का सन्निवेश किया जा रहा था।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिकों ने पुराण-संरचना की शैली में पंचलक्षण की जिस परिपाटी को अपनाया था, उसकी संगति केवल एक स्तर विशेष के लिए थी। प्रारम्भ में जिस उद्देश्य को अपनाकर इन्होंने अपनी रचना को विस्तार देना चाहा था, उसके आलोक में पुराणों को लक्षणबद्ध किया ही नहीं जा सकता था। पुरातन का विस्तार इनका लक्ष्य था और इसलिये पुराणों के मौलिक स्थलों को परिवर्द्धित करने के साथ साथ, इन्होंने मूल लक्षणों के स्वरूप में भी संशोधन लाने की चेष्टा की। ऊपर यह कहा जा चुका है कि विष्णुपुराण के एक विवरण में सर्ग आदि पाँचों लक्षणों का वर्ण्य-विषय विष्णु को माना गया है। इसी प्रकार मत्स्यपुराण में भी पाँचों लक्षणों के उल्लेख के उपरान्त वर्णित है कि इनके माध्यम से पुराण ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य तथा रुद्र का गौरव गान करते है।[14] इन साक्ष्यों से यही व्यक्त होता है कि पौराणिक विषयों का गुम्फन पूर्व-प्रचलित रूढ़ पद्धति में ही विस्तार लाकर किया जाता था।

दशलक्षण :

इस प्रकरण में आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भागवतपुराण में परिगणित पुराणों के दशलक्षणों का विशद विवेचन किया है। ये दशलक्षण भागवत के दो स्कन्धों में प्राप्त होते है।[15] श्री उपाध्याय के अनुसार इन दोनो स्कन्धो मे दिये गये लक्षणों में शब्द भेद अवश्य है, पर अभिप्रायभेद नहीं है।[16] ये दशलक्षण इस प्रकार हैं--(1) सर्ग, (2) विसर्ग, (3) वृत्ति, (4) रक्षा, (5) अन्तर, (6) वंश, (7) वंशानुचरित, (8) संस्था, (9) हेतु तथा (10) अपाश्रय। इन लक्षणों मे सर्ग, संस्था (अर्थात् प्रतिसर्ग), वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित प्राचीन पंचलक्षणों की पुनरावृत्ति मात्र है, पर विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, हेतु तथा अपाश्रय भागवत के नवीन संयोजन हैं। सर्ग और विसर्ग में यह अन्तर है कि पहले का तात्पर्य सृष्टि के कारणभूत प्रधान तत्वों

13 सिद्धेश्वरी नारायण राय : पुराणम् ७।२ में प्रकाशित निबन्ध, पृष्ठ 280

14. मत्स्यपुराण, 53।66-67

15. भागवतपुराण 2।10।1-7, 12।7।9 20

16. बलदेव उपाध्याय : पुराण विमर्श, पृष्ठ 128

से है, पर दूसरे का अर्थ है सविस्तार जीव आदि का सृजन। इसी प्रकार वृत्ति आदि चारो विषयों का अर्थ क्रमश. जीविका, अवतारों के माध्यम से सृष्टि का संरक्षण, सृष्टि का कारणभूत जीव तथा सृष्टि का आधार अथवा अधिष्ठान है।

भागवत के अध्यायान्तर मे जिन दशलक्षणो का उल्लेख है, वे इस प्रकार है--(1) सर्ग, (2) विसर्ग, (3) स्थान, (4) पोषण, (5) ऊति, (6) मन्वन्तर, (7) ईशानुकथा, (8) निरोध, (9) मुक्ति तथा (10) आश्रय। इन दश लक्षणो की समीक्षा संक्षेप में पुसाल्कर महोदय ने भी की है। भागवत के बारहवे स्कन्ध मे ऐसा सकेत भी है कि पाँच अथवा दशलक्षणों की योजना महान् अथवा अल्प व्यवस्था के कारण की जाती है। पुसाल्कर महोदय का मत है कि अल्प व्यवस्था से तात्पर्य यहाँ उप-पुराणो से है।[17] पर ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत के उक्त श्लोक में प्रयुक्त 'महदल्प व्यवस्था' से मन्तव्य कुछ और ही है। इसका सम्भावित अर्थ यह हो सकता है कि जिस प्रकार की व्यवस्था पुराण-संरचना मे अपनाई गई हो, उसी के अनुसार लक्षणों का निर्णय किया जाना चाहिये। वस्तुत यहाँ पर सकेत, उस पौराणिक प्रवृत्ति की ओर है, जिसके कारण समय समय पर नवीन परिस्थितियो के अनुसार एव नवोदित सांस्कृतिक तत्त्वो के अनुसार प्राचीन पुराणो का आकार परिवर्द्धन कर उनका प्रतिसंस्करण तैयार किया गया तथा उत्तरकालीन पुराणों की रचना की गई। कुछ इसी प्रकार का निष्कर्ष भागवत के एक दूसरे श्लोक से निकलता है, जिसका उल्लेख पूर्व वर्णित दशलक्षणो के साथ मिलता है।[18] इस प्रसंग मे यह कहा गया है कि इनका (विशेषतया दसवे लक्षण का) वर्णन श्रुति और अर्थ के अनुसार अथवा दोनो के समन्वय द्वारा किया जाता है। इससे यह व्यक्त होता है कि पुराण के लक्षणो की परम्परा तो पहले से ही चली आ रही थी, पर न तो इनके स्वरूप और न सख्या मे ही पौराणिको के लिए किसी प्रकार का बन्धन था। श्रुति और अर्थ का तात्पर्य यही हो सकता है कि शिष्य-प्रशिष्य की परम्परा के अनुसार अनेक अतीतकालीन तथ्यो तथा उनसे सम्बन्धित स्थलो का समय समय पर पौराणिक सम्प्रदाय ने श्रद्धा के साथ आदान अवश्य किया, पर युग-युगान्तर की अभिरुचि के अनुसार तथा बौद्धिक उपलब्धियों के अनुकूल आवश्यक संशोधनकर पुराण सरचना को उन्होंने समय के अनुकूल बनाने का प्रयास भी किया। इसके अतिरिक्त यह कथन भी युक्ति सगत नही लगता है कि उप-पुराणो मे अल्प-व्यवस्था का अनुसरण किया गया था। यह सही है कि प्रचलित परम्परा के अनुसार उप-पुराणो को 'खिल'

17 पुसाल्कर वही भूमिका पृष्ठ 46
18 भागवतपुराण, 2।10।2

अर्थात् परिशिष्ट माना जाता था, पर सामान्य स्थिति इससे भिन्न थी।[19] आकार विस्तार, बहुविध विषयों के समावेश तथा उपपुराणों में निबद्ध मान्यता की दृष्टि से इन ग्रन्थों की उपादेयता तथा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्ता, अष्टादश पुराणों से कम नहीं मानी जाती थी।[20]

पुराणों की संख्या :

जैनेतर समाज का पुराण-साहित्य बहुत विस्तृत है। पुराणों की संख्या के सन्दर्भ में विन्टरनित्स ने पुराण के उस श्लोक की चर्चा की है, जिसमें चार प्राथमिक पुराण ग्रन्थों की रचना का वर्णन है, पर उनका नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता है।[21] इस श्लोक के अनुसार इन चारों का संकलन सूत, रोमहर्षण तथा इनके तीन शिष्यों ने किया था। विन्टरनित्स ने इस विवरण के आख्यानात्मक होने के कारण इसकी विश्वसनीयता पर सन्देह प्रकट किया है।[22] पर हरप्रसाद शास्त्री ने इस विवरण में वस्तु स्थिति का सन्निधान माना है। इनके अनुसार पुराण संख्या का विस्तार तीन स्तरों के साथ हुआ। पहले स्तर पर जैसा कि विष्णुपुराण से स्पष्ट है पुराणों की संख्या चार ही थी। वायुपुराण में इनकी संख्या दश बताई गई है, पुराण-संख्या के विस्तार का यह दूसरा स्तर माना जा सकता है। तीसरा स्तर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था, जबकि इनकी संख्या दश के स्थान पर अट्ठारह हो गई।

उपरोक्त सन्दर्भ में पार्जीटर तथा फर्क्यूहर के मत विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इनके अनुसार पुराणों की अन्तिम संख्या उन्नीस मानी जा सकती है। पार्जीटर ने पुराणों की संख्या विस्तार में शिवपुराण को भी सम्मिलित किया है। जबकि वस्तु-स्थिति इससे कुछ भिन्न लगती है। पौराणिक स्थलों में महापुराणों की संख्या जहाँ कहीं भी दी गई है, वहाँ अट्ठारह का ही उल्लेख है। इस प्रकार की तालिका प्रायः सभी पुराणों में मिलती है, जिसमें निम्नांकित महापुराण गिनाये गये हैं—(1) ब्रह्म, (2) पद्म, (3) विष्णु, (4) वायु, (5) भागवत, (6) नारदीय, (7) मार्कण्डेय, (8) अग्नि (9) भविष्य, (10) ब्रह्म-वैवर्त, (11) वराह, (12) लिंग, (13) स्कन्द, (14) वामन,

19. इस सम्बन्ध में हाजरा ने ब्रह्मवैवर्त्तपुराण 4।131।6-10; के प्रति संकेत किया है, जिसमें इन लक्षणों के प्रति उल्लेख मिलता है (हाजरा : स्टडीज इन उप-पुराणाज-भाग 1, पृष्ठ 18
20. वही, पृष्ठ 18
21. विन्टरनित्स : वही, पृष्ठ 521
22. (क) पुसाल्कर : वही, पृष्ठ 41
    (ख) सचाऊ : अलबरूनीज इण्डिया, भाग-1 पृष्ठ 130

(15) कूर्म, (16) मत्स्य, (17) गरुड़ तथा (18) ब्रह्माण्ड ।[23] कुछ पुराणों में शिव-पुराण का भी उल्लेख है, पर ऐसे ग्रन्थों में फिर वायुपुराण की चर्चा नहीं है। अतएव पुराणों की परम्परागत अन्तिम संख्या अट्ठारह ही मानी जा सकती है, न कि उन्नीस। शिवपुराण को भ्रमवश अथवा शैव परम्परा के निर्वाह में ही महापुराण माना गया है।[24] इस पुराण का सबसे प्राचीन निर्देश अलबरुनी के विवरण में मिलता है।[25] अतएव इसे प्रमाणिक भी नहीं माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त पुराणों की तालिकाओं में शिवपुराण की मात्र चर्चा के आधार पर इसका महा-पुराणत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इसका समावेश बाद में हुआ था।

उपपुराण :

अट्ठारह महापुराणों के परिशिष्ट या उपपुराण भी हैं। ये भी अट्ठारह ही हैं। गरुड़पुराण में अट्ठारह उपपुराणों का भी उल्लेख आया है जो निम्न प्रकार है-- (1) सनत्कुमार, (2) नारसिंह, (3) स्कन्द, (4) शिवधर्म, (5) आश्चर्य, (6) नारदीय, (7) कापिल, (8) वामन (9) औशनस, (10) ब्रह्माण्ड, (11) वारुण (12) कलिका, (13) माहेश्वर, (14) साम्ब, (15)सौर, (16) पराशर, (17) मारीच और (18) भार्गव।

भागवतपुराण में उपर्युक्त स्कन्द, वामन, ब्रह्माण्ड, मारीच और भार्गव के स्थान में क्रमशः शिव, मानव, आदित्य, भागवत और वाशिष्ट इन नामों का उल्लेख आया है। इनमें सौरपुराण ब्रह्मपुराण का परिशिष्ट है, नारदीय बृहन्नारदीय का

23 ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं भागवतं तथा।
तथान्यन्नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम् ॥
आग्नेयमष्टमम् प्रोक्तं भविष्यं नवमम् स्मृतम्।
दशमं ब्रह्मवैवर्तं नृसिंहैकादशं तथा ॥
वाराहं द्वादशं प्रोक्तं स्कान्दमत्र त्रयोदशम्।
चतुर्दशं वामनकं कौर्मं पंचदशंतथा ॥
मात्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम् ॥
मार्कण्डेयपुराण-अध्याय-137

24. विन्टरनित्स : ए हिस्टरी आफ इण्डियन लिट्रेचर, भाग-2, पृष्ठ 524 पाद टिप्पणी 4

25. (क) बलदेव उपाध्याय : पुराण विमर्श, पृष्ठ 100
(ख) हाजरा : वही, पृष्ठ 15
(ग) पुसाल्कर : वही, पृष्ठ 41

उपपुराण है ।[26] उप-पुराणो मे अन्य महत्त्वपूर्ण पुराण देवीभागवत, शिव (कुछ के मत मे वायु) कलिका और सौर तथा विष्णु धर्मोत्तर का नाम लिया जा सकता है ।

सामान्यतः पुराणो और उपपुराणों मे विशेष मौलिक अन्तर नहीं है । केवल यह है कि इनमे स्थानीय सम्प्रदायों के अपने भावो का चित्रण और विभिन्न सम्प्रदायो की धार्मिक आवश्यकताओ का वर्णन पाया जाता है ।[27] दयानन्द सरस्वती ने अपने एक प्रारम्भिक विज्ञापन मे देवीभागवत को व्यास रचित और प्रामाणिक बताया था । पुराणो और उपपुराणो के साम्य के कारण ही कुछ पुराणो और उपपुराणो मे पुराणत्व के लिए विवाद रहता है ।

बौद्धधर्मपुराण :

नैपाली और बौद्ध समाज मे स्वतन्त्र बौद्ध पुराणों का आजकल प्रचार है । परन्तु प्राचीन बौद्ध ग्रन्थो मे पुराणो का उल्लेख नही है । आजकल नैपाली बौद्ध लोग नौ पुराण मानते है । इन्हे नव धर्म भी कहते है । आख्यान, इतिहास, बौद्धो के वृत्तादि और प्रमुख तथा-गतो की जीवनी, इन पुराणों मे वर्णित है ।

बौद्ध पुराणों के नाम तथा परिचय :

1. पहला पुराण-प्रज्ञापारमिता है । इसमे आठ हजार श्लोक है ।

2. दूसरा पुराण-गण्डव्यूह है । इसमे बारह सौ श्लोक है, और सुधन-कुमार का चरित वर्णन है । जिन्होने चौसठ गुरुओ से बोध-ज्ञान की कथा सुनी थी ।

3. तीसरा पुराण--समाधिराज है जिसमे तीन हजार श्लोक है और जप द्वारा समाधि की विधि व्यवस्था वर्णित है ।

4. चौथा पुराण--लंकावतार है । इसमे तीन हजार श्लोक है । इसमे लिखा है कि एक बार रावण मलयगिरी गया था, वहाँ उसने शाक्यसिंह से बुद्ध-चरित्र का श्रवण किया जिससे उसे बोधि-ज्ञान लाभ हुआ ।

5. पाँचवाँ पुराण--तथागत गुह्यक है ।

6. छठा पुराण--सद्धर्म पुण्डरीक है । इसमें चैत्य वा बुद्धमण्डल के निर्माण की पद्धति है और उसकी पूजा का भी फल बताया गया है ।

7. सातवाँ पुराण--बुद्ध वा ललितविस्तर है । इसमे सात हजार श्लोक है । इसमे भगवान बुद्ध के चरित्र का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

26. डा० सुधीर कुमार गुप्त संस्कृत साहित्य का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 67

8. आठवाँ पुराण--सुवर्णप्रभा है। इसमें सरस्वती, लक्ष्मी और पृथ्वी की कथा है और उनके द्वारा बुद्ध पूजा का वर्णन है।

9. नवाँ पुराण--दशभूमीश्वर है। इसमें दो हजार श्लोक हैं और विस्तार से दस भूमियों का वर्णन है।

इन नो पुराणों के सिवाय नैपाली बौद्धों में बृहत् और मध्यम दो स्वयम्भूव-पुराण भी पाए जाते हैं। नैपाल में स्वयंभूवक्षेत्र और स्वयंभूवचैत्य प्रसिद्ध तीर्थ हैं इन ग्रन्थों में उनका माहात्म्य विस्तार से कहा गया है। बृहत् स्वयंभूवपुराण के अन्त में जो कुछ लिखा है उससे जान पड़ता है कि इस पुराण की रचना नैपाल में शैव धर्म की प्रबलता के बाद विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में हुई।

इस पुराण के शेषांश से मालूम होता है कि शैवमत के प्रचार से ही आधुनिक बौद्धों का प्रभाव भग्न हुआ है। शैव सम्प्रदाय ने ही बौद्ध धर्म को अपना ग्रास बना डाला है। इस बृहत स्वयंभू:वपुराण में लिखा है--

यदा भविष्ये काले च अत्र नेपाल मण्डले।
शैव धर्मा प्रवर्त्तन्ते दूर्भिक्षं च भविष्यति ॥
यथा यथा शैव धर्मः प्रवर्त्तन्ते ऽत्र मण्डले।
तथा तथा च अत्यंथं दुःखपीड़ा भविष्यति ॥
बौद्ध लोक गणायेऽपि शैव धर्म करिष्यति।
ते सर्वे कृत पापाच्च नरकंच गमिष्यति ॥
शैव लोका जना येऽपि बौद्धधर्म प्रवर्त्तते।
तस्य पुण्यप्रसादाच्च सुखावतीं गमिष्यति ॥ (8 अध्याय)

जैनपुराण :

जैसा कि जैनेतर धर्मों में पुराणों और उपपुराणों का विभाग मिलता है, वैसा जैनपुराणों में नहीं पाया जाता है। फिर भी संख्या और विस्तार की दृष्टि से यदि विचार किया जावे तो चौवीस तीर्थंकरों, बारह चक्रवर्तियों नौ नारायणों, नौ प्रतिनारायणों और नौ बलभद्रों के चरित्र चित्रणों की अपेक्षा जैनसाहित्य में भी पुराणों की संख्या बहुत है।

श्री परमानन्द जी ने उन पुराणों की सूची दी है, जो अभी तक प्रकाश में आये हैं या जिनका उल्लेख पाया जाता है। कतिपय जैन-पुराणों के नाम इस प्रकार हैं--

पुराण का नाम	कर्त्ता	रचना वि० सम्वत्
	1. संस्कृत पुराण	
पद्मपुराण	रविषेण	705

पुराण का नाम	कर्त्ता	रचना वि० सम्वत्
महापुराण (आदिपुराण)	जिनसेन	9वीं शती
उत्तरपुराण	गुणभद्र	10 वीं शती
अजितपुराण	अरुणमणि	1716
आदिपुराण	भट्टारक चन्द्रकीर्ति	17 वीं शती
आदिपुराण	भट्टारक सकलकीर्ति	15 वीं शती
उत्तरपुराण	भट्टारक सकलकीर्ति	15 वीं शती
कर्णामृतपुराण	केशवसेन	1688
जय कुमारपुराण	ब्र० कामराज	1555
चन्द्र प्रभपुराण	कवि आगसदेव	
नेमिनाथपुराण	ब्र० नेमिदत्त	1575 के लगभग
पद्मनाभपुराण	भट्टारक शुभचन्द्र	17 वीं शती
पद्मपुराण	भट्टारक सोमसेन	
पद्मपुराण	भट्टारक धर्मकीर्ति	1656
पद्म पुराण	भटटारक चन्द्रकीर्ति	17 वीं शती
पद्मपुराण	ब्रह्म जिनदास	15-16 वीं शती
पाण्डवपुराण	भट्टारक शुभचन्द्र	1608
पाण्डवपुराण	भट्टारक श्रीभूषण	1657
पाण्डवपुराण	भट्टारक वादिचन्द्र	1658
पार्श्वपुराण	चन्द्र कीर्ति	1654
पार्श्वपुराण	वादिचन्द्र	1658
महापुराण	आचार्य मल्लिषेण	1104
पुराणसार	श्रीचन्द्र	
महावीरपुराण	कवि असग	910
महावीरपुराण	भट्टारक सकलकीर्ति	15 वीं शती
मल्लिनाथपुराण	भट्टारक सकलकीर्ति	15 वीं शती
मुनिसुव्रतपुराण	ब्र० कृष्णदास	
मुनिसुव्रतपुराण	भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति	
वागर्थ संग्रहपुराण	कवि परमेष्ठी	
शान्तीनाथपुराण	कवि असग	10 वीं शती
शान्तीनाथपुराण	भट्टारक श्रीभूषण	1659
श्रीपुराण	भट्टारक गुणभद्र	

पुराण का नाम	कर्ता	रचना वि० सम्वत्
हरिवंशपुराण	पुन्नाटसंघीय जिनसेन	शक् सम्वत् 705
हरिवंशपुराण	ब्रह्म जिनदास	15,16 वीं शती
हरिवंशपुराण	भट्टारक धर्मकीर्ति	1671
हरिवंशपुराण	कवि रामचन्द्र	1560 से पूर्व का रचित
	2. कन्नड़ पुराण	
आदिपुराण	कवि पंप	
चामुण्डपुराण	चामुण्डराय	शक सम्वत् 980
धर्मनाथपुराण	कवि बाहुबली	
मल्लिनाथपुराण	कवि नागचन्द्र	
	3. अपभ्रंश पुराण	
पउम चरिय	चतुर्मुख देव	
पउम चरिय	स्वयंभू देव	
पद्मपुराण	कवि रइधू	15, 16 वीं शती
पाण्डवपुराण	भट्टारक यशः कीर्ति	999 1497
पार्श्वपुराण	पद्म कीर्ति	999
पार्श्वपुराण	कवि रइधू	15-16 वीं शती
महापुराण	महाकवि पुष्पदन्त	
हरिवंशपुराण	स्वयंभूदेव	
हरिवंशपुराण	चन्द्रमुखदेव	
हरिवंशपुराण	भट्टारक यशः कीर्ति	1507
हरिवंशपुराण	भट्टारक श्रुतकीर्ति	1552
हरिवंशपुराण	कवि रइधू	15, 16 वीं शती

पुराणों का रचनाकाल :

पुराणों के विश्लेषण में इनकी रचना के काल का प्रश्न अतीव महत्त्वपूर्ण है। पुराण का उदय और सम्प्रति उपलब्ध पुराणों का साहित्यिक रूप–इन दोनों में काल और स्तर सम्बन्धी भिन्नता स्पष्ट दिखाई देती है। पुराण का उदय तो पहले हो चुका था, पर इसे साहित्यिक रूप बहुत बाद में प्राप्त हुआ। इसके उदय-काल का परिचय वैदिक ग्रन्थों में पुराण शब्द के निर्देश द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

वेदों में पुराण—ऋग्वेद के मन्त्रों मे अनेकत्र पुराण शब्द का उल्लेख[28]

28. ऋग्वेद, 3।5।49, 3।58।6, 10।130।6

तथा एक स्थल[29] पर पुराणी शब्द का उल्लेख मिलता है। पर, यहाँ पुराण का तात्पर्य केवल प्राचीनता से तथा प्राचीन गाथा से है। अथर्ववेद के दो मन्त्रों में क्रमशः पुराण[30] और पुराणवित्[31] शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। पहले मन्त्र में ऋक्, साम, अथर्व तथा यजुष् के साथ इनका उद्भव बताया गया है, तथा दूसरे मन्त्र में अदृश्यभूमि को देखने वाले ज्ञानी पुरुष को पुराणविद् की संज्ञा दी गई है। गोपथब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण, उपनिषद्, कल्प आदि के साथ साथ पुराण का निर्माण भी वेदांग के रूप में हुआ था।[32] एक अन्य स्थल पर दो प्रसंगों मे पुराणवेद तथा इतिहासवेद का उल्लेख हुआ है।[33] ऐसा विचार है कि इस समय तक इतिहास और पुराण की भिन्नता निश्चित की जा चुकी थी।[34] शतपथब्राह्मण के उद्धरणों में पुराण का उल्लेख या तो स्वतंत्र रूप मे[35] या इतिहास[36] शब्द के साथ हुआ है। तैत्तिरीय आरण्यक[37] में पुराण शब्द का प्रयोग बहुवचन मे तथा बृहदारण्यक[38] और छान्दोग्य[39] उपनिषदों में इसका उल्लेख इतिहास शब्द के साथ मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र[40] में पुराण के स्वाध्याय और श्रवण की चर्चा स्पष्ट रूप में हुई है।

डॉ० सुधीर कुमार गुप्त की अवधारणा है कि अथर्ववेद के पुराण और पुराणवित् शब्दों के प्रयोग से ज्ञात होता है कि वैदिक काल मे सृष्टिविद्या विषयक मन्त्र और सूक्त ही पुराण कहलाते होंगे। इनका सुप्रसिद्ध नाम भाववृत्त था। सृष्टि विषयक या भाववृत्त सूक्त वेदमन्त्रों की रचना के समकाल ही ब्रह्मा से ऋषियों को प्राप्त हुए। अतः पुराणों को ऋग् आदि के साथ उत्पन्न माना गया है। इसी पुराण विषय का अश्वमेध आदि मे श्रवण अभीष्ट रहा होगा तथा इनके स्वाध्याय पर विशेष बल रहा होगा। सन्ध्या में भी सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी मन्त्रो का मनन किया जाता है। क्योंकि सृष्टि का आविर्भाव वेदमन्त्रो के व्यक्त रूप से पूर्व होता है, इसीलिए मत्स्य-

29 वही 9।99।4, विशेष विवरण के लिए देखिये बलदेवउपाध्याय ; पुराण सार, पृष्ठ 8
30 अथर्ववेद, 11।7।27
31 वही; 11।8।7
32 गोपथब्राह्मण, 1।2।10
33 वही; 1।1।10
34 बलदेव उपाध्याय; पुराणसार, पृष्ठ 11
35 शतपथब्राह्मण, 13।4।3।12-13
36 वही, 11।5।6।8, 11।5।7।9, 24।6।10।6
37 तैत्तिरीय आरण्यक, 2।9
38. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2।4।11
39 छान्दोग्य उपनिषद्, 7।1।2-4, 7।2।1
40 आश्वलायन गृह्यसूत्र, 3।4, 4।6

और वायुपुराणों में पुराण को सृष्टि से तादात्म्य करके वेद से पूर्व का बताया हो सकता है। यदि ऐसा न माना जाए तो पूर्व लेखानुसार पुराण के किसी रूप का वेद से पूर्व अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता है।

सूत्र साहित्य में पुराण—पुराण रचना को संकलित साहित्य का रूप वैदिक काल के उपरान्त ही प्राप्त हुआ होगा। इस दृष्टि से धर्म-सूत्रों का विवरण तथा इनमें पुराण शब्द का उल्लेख महत्वपूर्ण माना जा सकता है। धर्मसूत्रों में सबसे प्राचीन धर्मसूत्र गौतमधर्मसूत्र है। इस ग्रन्थ में प्रामाणिकता के लिए, न्याय के निर्णय में वेद, व्यवहार शास्त्र तथा वेदांग के साथ पुराण को भी उपादेय बताया गया है।[41] पुराण शब्द के इस प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि इस समय तक पुराण का कोई लिखित रूप सत्ता में आ चुका होगा। धर्मसूत्र का संकेत इस विवरण में पुराण की किसी मूल-संहिता की ओर है अथवा इसका अभिप्राय किसी विशेष पुराण से या पुराण-ग्रन्थों के समुदाय से है। यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता है पर इतना निश्चय है कि न्याय परम्परा में पुराण उपादेय माना जाता था। इसी के अनुकरण पर उत्तरकालीन धर्मशास्त्रों ने भी इस प्रकार का विधान किया है।[42] यह उसी दशा में सम्भव था जबकि पुराण की प्रतिष्ठा शास्त्र के रूप में ही रही हो। इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब धर्मसूत्र के तीन ऐसे उद्धरणों को प्रकाश में लाया जा सकता है,[43] जिनमें दो का सम्बन्ध किसी पुराण से तथा तीसरे का भविष्यत् पुराण[44] से बताया गया है। यदि इन धर्मसूत्रों का काल पंचम-चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व मान लिया[45] जाय तो इसीकाल को पुराण संरचना का वह प्रथम स्तर भी मान सकते है, जब इसे संकलित साहित्य का कोई रूप मिल चुका था। इस सम्बन्ध में हाजरा महोदय का कहना है कि आपस्तम्ब सूत्र के पहले ही एक से अधिक पुराणों के प्रणयन की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी।[46] परन्तु श्री बलदेव उपाध्याय का मत है कि आपस्तम्ब का साक्ष्य उस काल में पुराण की रचना को तो द्योतित करता है[47] परन्तु यह साक्ष्य इतना पूर्ण और पुष्ट नहीं है कि इसके आधार पर एक अथवा अनेक पुराणों की रचनाओं का अनुमान

41. गौतमधर्मसूत्र, 11।19, देखिये विण्टरनित्स : हिस्ट्री…11, पृष्ठ 519
42. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1।3
43. आपस्तम्बधर्मसूत्र, 2।23।35
44. वही; 2।9।24-26
45. विण्टरनित्स : हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, पृष्ठ 519
46. हाजरा : वही, पृष्ठ
47. बलदेव उपाध्याय : पुराण विमर्श, पृष्ठ 19

लगाया जा सके । तथापि इतना तो कहा जा सकता है कि पुराण संरचना को जिन प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरणा मिली, उनके आलोक में एक ही साथ अनेकों पुराणों का प्रणयन असम्भव नहीं था।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र में पुराण—कौटिल्य-अर्थशास्त्र में तीन ऐसे स्थल मिलते हैं, जिनमें अध्ययन के विषय के रूप में पुराण का तथा वेतन-भोगी पौराणिकों की चर्चा की गई है। [48] श्री बलदेव उपाध्याय का मत है कि इन तीनों स्थलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य का परिचय न केवल पुराणों से ही था, अपितु उन विषयों मे भी था जिन्हें पुराण का वर्ण्य विषय माना जाता था।[49] पार्जिटर के निष्कर्ष के आधार पर चतुर्थ शती ई० पूर्व तक पुराणों को रचित और संकलित रूप प्राप्त हो चुका था।[50] पर विण्टरनित्स का कहना है कि अर्थशास्त्र की रचना चतुर्थ शती के के पहने नहीं मानी जा सकती है।[51] इस प्रकार इन्होंने पुराणों की रचनाकाल के प्रथम संकलित स्तर के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता के प्रति सन्देह व्यक्त किया था। पर इतना कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र की परम्परा में पुराणों की प्रामाणिकता प्रतिष्ठित हो चुकी थी। यदि परम्परा के प्रादुर्भाव का काल परम्परा सन्निवेश का पूर्ववर्ती माना जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि पंचम-चतुर्थ ई० पूर्व में पुराण रचना के लिखित रूप का प्रथम स्तर प्रस्तुत हो चुका था।

महाभारत में पुराण—महाभारत के अन्तः साक्ष्यों की समीक्षा से भी पुराणों की रचनाकाल के प्राचीन स्तर पर सन्तोषजनक प्रभाव पड़ता है। इस ग्रन्थ में एक स्थल पर मानव धर्म-शास्त्र, वेदांग तथा चिकित्सा शास्त्र के साथ-साथ पुराण को श्रद्धेय तथा अतर्क्य घोषित किया गया है।[52] इसी प्रकार महाभारत में ऐसे अनेक स्थल प्राप्त होते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि महाभारत का पुराणों से न केवल परिचय ही था अपितु इसे पुराणों की प्रामाणिकता भी मान्य थी।[53] ऐसा भी जान पड़ता है कि महाभारत के काल तक एक से अधिक पुराणों की रचना सम्पन्न हो चुकी थी। इसके एक श्लोक में अतीत और अनागत के विवरण देने में वायु-पुराण की उपा-

48. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 5।6, 5।3, 5।13-14
49. बलदेव उपाध्याय : पुराण विमर्श, पृष्ठ 22
50. पार्जीटर : वही, पृष्ठ 54
51. विण्टरनित्स : वही, पृष्ठ 519—पाद टिप्पणी 3
52. बलदेव उपाध्याय : पुराण विमर्श, पृष्ठ 19
53. (क) विण्टरनित्स : वही. पृष्ठ 520 (ख) हाजरा : वही, पृष्ठ 2

देवता पर ध्यान आकर्षित किया गया है।[54] एक प्रसंग में जनमेजय के सर्प-यज्ञ के आख्यान का स्रोत वायुपुराण को माना गया है।[55] हाप्किन्स के मतानुसार इस कथा का जो स्वरूप वायुपुराण के वर्तमान संस्करण में मिलता है, वह महाभारत की अपेक्षा प्राचीन प्रतीत होता है।[56] महाभारत के दो विवरणों में अष्टादश पुराणों की संख्या निर्देश करते हुए यह स्पष्ट कहा गया है कि व्यास ने इनकी रचना करने के उपरान्त ही महाभारत की रचना की।[57] कुछ विद्वानों ने पुराणों के रचना-काल के निर्धारण में इन दोनों विवरणों को अतीव महत्त्वपूर्ण बताया है।[58]

महाभारत के अन्तिम सम्पादन का काल चार सौ ईस्वी माना जाता है।[59] अतएव इस आधार पर पौराणिक साहित्य रचना का समय इसके पूर्व ही मानना संगत लगता है।

बाण की दृष्टि में पुराण—बाण की कादम्बरी में एक स्थल पर कवि ने पुराणों मे वायु के कथन की महत्ता को स्पष्ट किया है।[60] इस वर्णन से न केवल पुराणों के सम्पादित स्वरूप का ही, अपितु विशिष्ट पुराणों की तुलनात्मक लोक-प्रियता का भी पता चलता है। बाण के काल तक जितने पुराणो की रचना हुई थी, उनमें कदाचित वायुपुराण सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता था। हर्षचरित में भी बाण ने वायुपुराण के पठन-पाठन की चर्चा की है।[61] इस प्रसंग में जो विवरण मिलता है, उसके आधार पर दो निष्कर्ष निकाले गये हैं—एक तो पुस्तक पढ़ने वालों का विशिष्ट समुदाय होता था तथा दूसरे पुराणों का पाठ सार्वजनीन

54. महाभारत, वनपर्व 191।16
55. वही, 3।191।16
56. हाप्किन्स : दि ग्रेट एपिक आफ इण्डिया, पृष्ठ 48
57. महाभारत, 18।5।95, 18।5।46
58. (क) बलदेव उपाध्याय : वही, पृष्ठ 20
    (ख) मैकडानल : हिस्ट्री आफ दि संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ 299
    (ग) पार्जीटर : वही, पृष्ठ 22
    (घ) इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली–भाग– 8, पृष्ठ 761
59. (क) हाप्किन्स : वही, पृष्ठ 397–398
    (ख) विण्टरनित्स : वही, पृष्ठ 503
    (ग) पुसाल्कर : वही, भूमिका, पृष्ठ 31
60. कादम्बरी-पूर्वभाग, जाबालि आश्रम विवरण
61. हर्ष चरित तृतीय परिच्छेद–पुस्तकवाचकः सुदृष्टि............गीत्या पवमानप्रोक्तं पुराणं पपाठ

सम्मेलनों में किया जाता था।[62] कादम्बरी के राजकुल वर्णन में समस्त भुवनों की शोभा से समलंकृत राजकुल की तुलना पुराण से की गई है। जिसमें विभाग के क्रमानुसार भुवनकोश का वर्णन रहता है।[63] यहाँ स्पष्ट है कि कवि का मन्तव्य पुराणों के उस विशेष भाग से है जिसे भुवनकोश या भूमि-संस्थान की संज्ञा दी जाती है।[64]

कादम्बरी के उत्तरभाग मे पुराण, रामायण तथा (महा) भारत का साथ साथ उल्लेख मिलता है।[65] इस वर्णन में दो विशेषताएं दिखाई देती है—एक तो यहाँ पुराण की परिगणना रामायण और महाभारत के पहले हुई है तथा दूसरे पुराण को रामायण और महाभारत की भाँति आगम की संज्ञा दी गई है। इससे व्यक्त होता है कि उत्तर कादम्बरी के रचनाकाल तक रामायण और महाभारत की अपेक्षा पुराण को प्राथमिकता दी जाती थी और सम्भवतः इसे अधिक प्राचीन भी माना जाता था। आगम का सामान्य अर्थ होता है धर्मशास्त्र।[66] इस दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि इस समय तक पुराणों में धर्मशास्त्रपरक विषयों का भी समावेश हो चुका था। बाण की रचनाओं में मिलने वाले इन सभी विवरणों की सम्मिलित ध्वनि यही हो सकती है कि सातवीं शताब्दी ईस्वी के पूर्व ही पुराण-संरचना को निश्चित रूप प्राप्त हो चुका था।

---

62. बलदेव उपाध्याय : वही, पृष्ठ 35
63. कादम्बरी पूर्वभाग, पुराणमिव यथा विभागावस्थापितसकलभूवन कोशम्
64. पुमाम्कर, वही, भूमिका—पृष्ठ 45
65. आगमेषु सर्वेष्वेव पुराण रामायण भारतादिषु..............कादम्बरी उत्तर भाग
66. (क) मनुस्मृति, 12।105
    (ख) मोनियर विलियम्स ; संस्कृत-इंगलिश डिक्सनरी, पृष्ठ 129

द्वितीय अध्याय

हरिवंशपुराणकार जिनसेनाचार्य : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आचार्य जिनसेन का हरिवश पुराण-दिगम्बर सम्प्रदाय के पुराण साहित्य मे अपना प्रमुख स्थान रखता है। यह विषय विवेचना की दृष्टि से तो प्रमुख स्थान रखता ही है, साथ ही प्राचीनता की दृष्टि से भी उपलब्ध एव चर्चित जैन-सस्कृत पुराणो मे इसका दूसरा स्थान है। पहला पद रविषेणाचार्य के पदमपुराण का है।[1] रविषेण के पद्मपुराण का उल्लेख जिनसेन ने अपने हरिवशपुराण के प्रथम सर्ग मे इस प्रकार किया है-

> कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यह परेवर्तिता ।
> मूर्ति. काव्यमयी लोके रवेरिव रवे प्रिया ।। 34 ।।
> यहाँ 'रवे' रविषेण का द्योतक है।

हरिवश के कर्त्ता जिनसेन ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे [2] पार्श्वाभ्युदय के कर्त्ता जिनसेन स्वामी का उल्लेख किया है, इसलिए इनका महापुराण हरिवश से पूर्ववर्ती होना चाहिये । यह मान्यता उचित नही प्रतीत होती, क्योंकि जिनसेन (प्रथम) का स्मरण करते हुए उनके पार्श्वाभ्युदय का तो उल्लेख किया है परन्तु महापुराण का उल्लेख नही किया, इससे मालूम पडता है कि हरिवश की रचना के पूर्व-तक जिनसेन (प्रथम) के महापुराण की रचना नही हुई थी। जैसा कि सर्वविदित है महापुराण , जिनसेन स्वामी के जीवन की अन्तिम रचना है। वह उनके द्वारा पूर्ण नही की जा सकी थी, बादमे उनके शिष्य गुणभद्राचार्य द्वारा पूर्ण की गई। इस कारण भी हरिवशकार ने महापुराण का उल्लेख नही किया होगा।

हरिवश पुराणकार जिनसेन, आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन से भिन्न पुराणकार थे।

यहाँ हम यह प्रकट कर देना चाहते है कि हरिवशपुराण के कर्त्ता जिनसेन के साथ आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेनाचार्य का नाम-साम्य के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नही है। दोनो प्राय समकालीनथे। इस कारण ही कुछ विद्वानो ने दोनो को एक समझ लिया है, परन्तु नीचे लिखे तथ्यो पर विचार करने से इनका पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है -

---

1 नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ 113

2 हरिवशपुराण, 1।40-41

1—दोनों के गुरु पृथक्-पृथक् हैं। हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन के गुरु का नाम कीर्तिषेण है और आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन के गुरु का नाम वीरसेन है।[3]

2—दोनों जिनसेनों की गुरु परम्परा भी भिन्न है।[4]

3—हरिवंशपुराणकार जिनसेनाचार्य पुन्नाटसंघ के आचार्य थे और आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन सेनसंघ या पंचास्तुपान्वय के[5] आचार्य थे।

4—हरिवंशपुराणकार जिनसेन ने अपने पुराण के प्रथम अध्याय में 39-40 वें श्लोक में पार्श्वाभ्युदय के कर्त्ता जिनसेन और उनके गुरु वीरसेन की स्तुति की है--

जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः ।
वीरसेन-गुरोः कीर्तिरकलंकावभासते । ।।
यामिताऽभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः । । 39-40 ।

इससे दोनों का पृथक्त्व बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है क्योंकि पार्श्वाभ्युदय के कर्त्ता जिनसेन ही आदिपुराण के कर्त्ता हैं।

5—दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से भली-भांति समझ में आ जाता है कि इनके रचयिता भिन्न भिन्न हैं। हरिवंशपुराण में तीनों लोकों का, संगीत का, व्रत-विधानादि का जो बीच-बीच में विस्तृत वर्णन किया है उससे कथा के सौन्दर्य की हानि हुई है। इसके विपरीत आदिपुराण में उन सबके अधिक विस्तार को छोड़कर प्रसगानुसार संक्षिप्त ही वर्णन किया गया है। काव्योचित भाषा तथा अलंकार की विच्छित्ति भी हरिवंशपुराण की अपेक्षा महापुराण में अत्यन्त परिष्कृत है।

हरिवंशपुराण का रचनाकाल

वैदिक साहित्य और विशेषतः पौराणिक रचनाओं के कर्तृत्व और काल के सम्बन्ध में बड़ा विवाद तथा अनिश्चय रहा है। सौभाग्य से जैन परम्परा में काल निर्देश की प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है। यहाँ प्रमुख पुराणों के रचयिता और रचनाकाल के स्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं।

प्रस्तुत हरिवंशपुराण के कर्त्ता ने अपना परिचय भली प्रकार से दिया है कि वे पुन्नाटसंघ के थे, उनके गुरु का नाम कीर्तिषेण था और उन्होंने यह अपनी रचना शक सम्वत् 705 अर्थात् विक्रम सम्वत् 840 में समाप्त की।[6]

3. द्रष्टव्य : दोनों पुराणो में प्रदत्त गुरुपरम्परा
4. वही ;
5. नाथूराम प्रेमी की हरिवंशपुराण की भूमिका, पृष्ठ 8
6. हरिवंशपुराण, 66।52-53

इसकी पुष्टि आगे वर्णित उनके द्वारा उल्लिखित गुरु परम्परा तथा भौगोलिक स्थिति से भी होती है।

हरिवंशपुराण का रचना स्थान

हरिवंशपुराण का प्रारम्भ वर्द्धमानपुर नामक विशाल नगर के नन्नराज द्वारा निर्मित पार्श्वनाथ मन्दिर में और समापन दोस्तटिका के शान्तिनाथ जिन मन्दिर में हुआ –

कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा ।
पश्चाद्दोस्तटिका प्रजा प्रजनितप्राज्यार्चनावर्जने
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥53॥

यह वर्द्धमानपुर कहाँ था, इसका अभी तक कुछ निर्णय नहीं हो सका है। यह कोई बड़ा नगर था जिस में उस समय जैन धर्म के अनुयायियों का प्राचुर्य था। आचार्य हरिषेण ने अपनी बृहत्कथा को भी शक सम्वत् 853 (विक्रम सम्वत् 989) में अर्थात् हरिवंश की रचना के 148 वर्ष बाद इसी वर्द्धमानपुर में रह कर बनाया था। वे इस नगर का वर्णन इन शब्दों मे करते हैं–

जैनालयव्रातविराजितान्ते चन्द्रावदातद्युतिसौधजाले ।
कार्तस्वरापूर्णजनाधिवासे श्री वर्द्धमानाख्यपुरे............। ॥

अर्थात् जिसमें जैन मन्दिरों का समूह था, चन्द्रमा जैसे चमकते हुए महल थे और सोने से परिपूर्ण जन-निवास थे, ऐसा वह वर्द्धमानपुर था।

यह वर्द्धमानपुर सौराष्ट्र का प्रसिद्ध शहर 'वढ़वाण' जान पड़ता है क्योंकि हरिवंशपुराण में वर्णित उस समय की भौगोलिक स्थितियों में यही नगर ठीक बैठता है।

हरिवंशपुराण के अन्तिम सर्ग के 52 और 53 वें श्लोक में कहा है[7] कि शक सम्वत् 705 में जब कि उत्तर दिशा की इन्द्रायुध, दक्षिण दिशा की कृष्ण का पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व की अवन्तिराज वत्सराज और पश्चिम की सौरों के अधिमण्डल सौराष्ट्र की वीर जयवराह रक्षा करता था, तब अनेक कल्याणों से अथवा सुवर्ण से बढ़ने वाली विपुल लक्ष्मी से सम्पन्न वर्द्धमानपुर के पार्श्वजिनालय में जो कि नन्नराज वसति के नाम से प्रसिद्ध था यह ग्रन्थ पहले प्रारम्भ किया गया और पीछे चलकर दोस्तटिका के शान्तिनाथ जिन मन्दिर में रचा गया।

बढ़वाण से गिरनार को जाते हुए मार्ग में 'दोतड़ि' नामक स्थान है। वही दोस्तटिका है क्योंकि प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह (गायकवाड़ सीरिज) में प्रकाशित

7. हरिवंशपुराण, 66।52–53

अमुलकृत चर्चरिका मे एक यात्री की गिरनार यात्रा के प्रसंग में दोत्तड़ि को दोस्तटिका कहा है । वह यात्री सर्वप्रथम बढ़वाण पहुँचता है, फिर क्रम से रैनदुलई, सहजिगपुर, गंगिलपुर और लखमीधरु को पहुँचता है । फिर विषम दोत्तड़ि पहुँचकर बहुत सी नदियों और पहाड़ों को पार करता हुआ करिवंदियाल पहुँचता है । वह फिर अनन्तपुर में डेरा डालता हुआ झालरा में अपनी यात्रा समाप्त कर देता है । यहाँ से उसे ऊँचा गिरनार पर्वत दिखने लगता है । यह विषम दोत्तड़ि ही दोस्तटिका है ।

जिनसेन ने वर्द्धमानपुर को 'कल्याणैः परिवर्द्धमान विपुलश्री................' और हरिषेण ने 'कार्त्तस्वरापूर्ण जनाधिवासः' कहा है । 'कल्याण' और 'कार्त्तस्वर' ये दोनो शब्द सुवर्ण या सोने के वाचक है । सुवर्ण के अर्थ में कल्याण शब्द संस्कृत कोशों में तो मिलता है पर वाङ्मय मे विशेष व्यवहृत नहीं है, जिनसेन ने भी उसी अर्थ में इसका उपयोग किया है अर्थात् दोनों के ही कथनानुसार वर्द्धमानपुर के निवासियों के पास सोने की विपुलता थी, वह बहुत धनसम्पन्न नगर था । दोनों ही ग्रन्थकर्त्ता पुन्नाटसंघ के है जैसा कि आगे उल्लिखित है ।

चूंकि पुन्नाट और कर्नाटक पर्यायवाची हैं [8] तथापि मुनियों के विहारप्रिय होने से जिनसेन का सौराष्ट्र की ओर आगमन सम्भव था । सिद्धक्षेत्र के गिरनार पर्वत की वन्दना के अभिप्राय से पुन्नाट संघ के मुनियों ने इस ओर विहार किया होगा । जिनसेन ने अपनी गुरु परम्परा में अमितसेन को पुन्नाटगण का अग्रणी और शतवर्ष जीवी बताया है । इससे जान पड़ता है कि यह संघ अमितसेन के नेतृत्व में ही पुन्नाट कर्नाटक देश को छोड़कर उत्तर भारत की ओर आया होगा और पुण्यभूमि गिरनार क्षेत्र की वन्दना के निमित्त सोराष्ट्र (काठियावाड़) में गया होगा ।

सौराष्ट्र के बढवाण को ही रचना स्थान मानने पर ही उक्त चारों दिशाओं के राजाओं का मेल ठीक बैठता है, अन्यथा नही । अर्थात् उस समय की भौगोलिक स्थिति से वर्द्धमानपुर सौराष्ट्र का 'बढवाण' ही सिद्ध होता है ।[9] चारों दिशाओं के तत्कालीन राजाओं का विवरण इस प्रकार है–

8. द्रष्टव्य—'जैन हितैषी' 1920 का अंक 'हरिषेण का कथा कोष' नाथूराम प्रेमी द्वारा रचित ।

9. डा० हीरालालजी ने अपने एक लेख मे (इण्डियन कल्चर, अप्रेल 1945) धार राज्य के बंदनावर स्थान को वर्द्धमानपुर अनुमान किया है क्योकि बंदनावर में 'वर्द्धमानपुरान्वय' के मुनियो के अनेक लेख उपलब्ध है । परन्तु इससे तो इतना ही मालूम होता है कि मुनि उस अन्वयके थे जो वर्द्धमानपुर या बढ़वाण से चलकर बंदनावर पहुंचा था । जिस तरह पुन्नाट से बढ़वाण आकर जिनसेन का मुनिसंघ पुन्नाटान्वयी हुआ ।

1. **इन्द्रायुध**-गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने लिखा है कि इन्द्रायुध और चक्रायुध किस वंश के थे, यह ज्ञात नहीं हो सका हैं, परन्तु सम्भव है कि वे राठौड़ हों। परन्तु चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार इन्द्रायुध भण्डि कुल का था। इस भण्डि वंश को वर्म वंश भी कहते थे।[10] इन्द्रायुध के पुत्र चक्रायुध को परास्त करके प्रतिहारवंशी राजा के पुत्र नागभट्ट दूसरे (विक्रम सम्वत् 857-882) ने कन्नोज का साम्राज उससे छीना था।[11]

2. **श्रीवल्लभ**-यह दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश के राजा कृष्ण (प्रथम) का पुत्र था। इसका प्रसिद्ध नाम गोविन्द (द्वितीय) था। कावी में मिले हुए ताम्रपट[12] में इसे गोविन्द न लिखकर वल्लभ ही लिखा है, अतएव इस विषय में सन्देह नहीं रहा कि यह गोविन्द द्वितीय ही था और वर्द्धमानपुर की दक्षिण दिशा में उसी का राज्य था। कावी भी वढवाण के प्रायः दक्षिण में है। शक सम्वत् 692 (वि० सं० 827) का अर्थात् जिनसेन के हरिवंश की रचना के 13 वर्ष पहले का इस राष्ट्रकूट राजा श्रीवल्लभ का एक ताम्रपत्र[13] भी मिला है।

3. **अवन्तिभूभृत्वत्सराज**—यह प्रतिहार वंशका राजा था और उस नागावलोक या नागभट्ट दूसरे का पिता था जिसने चक्रायुध को परास्त किया था। वत्सराज ने गौड़ और बंगाल के राजाओं को जीता था, और उनसे दो श्वेत छत्र छीन लिये थे। आगे इन छत्रों को राष्ट्रकूट गोविन्द (द्वितीय) या श्रीवल्लभ के छोटे भाई ध्रुवराज ने चढ़ाई करके वत्सराज से छीन लिया था और मारवाड़ की अगम्य रेतीली भूमि की ओर भागने को विवश कर दिया था।

ओझाजी ने लिखा है कि उक्त वत्सराज ने मालवा के राजा पर चढ़ाई की और मालवराजको बचाने के लिए ध्रुवराज उसपर चढ़ दौड़ा। 705 में तो मालवा वत्सराज के ही अधिकार में था क्योंकि ध्रुवराज का राज्यारोहण काल शक सम्वत् 707 के लगभग अनुमान किया गया है। उसके पहले 705 में तो द्वितीय श्रीवल्लभ ही राजा था और इसलिए उसके बाद ही ध्रुवराज की उक्त चढ़ाई हुई होगी।

उद्योतनसूरि ने अपनी 'कुवलयमाला' जाबालिपुर या जालोर (मारवाड़) में तब समाप्त की थी, जब शक सम्वत् 700 के समाप्त होने में एक दिन बाकी था।[14]

10. द्रष्टव्य : सी० वी० वैद्य 'हिन्दू भारत का उत्कर्ष' पृष्ठ 175
11. ओझाजी के अनुसार नागभट्ट का समय वि० सं० 872-890 तक है।
12. इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द 5, पृष्ठ 146
13. एपिग्राफिआ इण्डिका : जिल्द 6, पृष्ठ 269
14. सगकाले वोलीणे वरिसाणसएहिं सत्तहिं गएहिं।
    एकदिणेणूणेहिं रइआ अवरहूणवेलाए॥—जैन साहित्य संशोधक खण्ड 2-

उस समय वहाँ वत्सराज का राज्य था।[15] अर्थात् हरिवंश की रचना के समय (शक सम्वत् 705 में) तो उत्तर दिशा का मारवाड़ इन्द्रायुध के आधीन था और पूर्व का मालवा वत्सराज के अधिकार में था। परन्तु इसके पाँच वर्ष पहले (शक सम्वत् 700) वत्सराज मारवाड़ का अधिकारी था। इससे अनुमान होता है कि उसने मारवाड़ से ही आकर मालवा पर अधिकार किया होगा और उसके बाद ध्रुवराज की चढ़ाई होने पर वह फिर मारवाड़ की ओर भाग गया होगा। शक सम्वत् 705 में वह अवन्ति या मालवा का शासक रहा होगा। अवन्ति वढ़वाण की पूर्व दिशा में है ही। परन्तु यह पता नहीं लगता कि उस समय अवन्तिका का राजा कौन था? जिसकी सहायता के लिए राष्ट्रकूट ध्रुवराज दौड़ा था। ध्रुवराज (शक सम्वत् 707) के लगभग गद्दी पर आरूढ़ हुआ था। इन सब बातों से हरिवंश की रचना के समय उत्तर में इन्द्रायुध, दक्षिण में श्रीवल्लभ और पूर्व में वत्सराज के राज्य के होने का अनुमान किया जा सकता है।

4. **वीर जयवराह**– यह पश्चिम में सौरों के अधिमण्डल का राजा था। सौरों के अधिमण्डल का अर्थ हम सौराष्ट्र ही समझते है, जो काठियावाड़ दक्षिण में है। सौर लोगों का राष्ट्र सौर-राष्ट्र या सौराष्ट्र से बढ़वाण और उसके पश्चिम की ओर का प्रदेश ही ग्रन्थकर्ता को अभीष्ट है। यह राजा किस वंश का था इसका पता ठीक नहीं चलता। हमारा अनुमान है कि यह चालुक्य वंश का कोई राजा होगा और उनके नाम के साथ 'वराह' का प्रयोग उस तरह होता होगा जिस तरह कि कीर्ति-वर्मा (द्वितीय) के साथ महावराह का। राष्ट्रकूटों से पहले चौलुक्य सार्वभौम-राजा थे, और कठियावाड़ पर भी उनका अधिकार था। उनसे यह सार्वभौमपना शक सम्वत् 675 के लगभग राष्ट्रकूटों ने ही छीना था, इसलिए बहुत सम्भव है कि हरिवंश की रचना के समय सौराष्ट्र पर चौलुक्य वश की ही किसी शाखा का अधिकार रहा हो और उसी को जयवराह लिखा हो। सम्भवतः पूरा नाम जयसिंह हो और वराह विशेषण।

प्रतिहार राजा महीपाल के समय का एक दानपत्र हड्डाला गाँव (काठियावाड़) में शक सम्वत् 836 का मिला है। उससे मालूम होता है कि उस समय बढ़वाण में धरणीवराह का अधिकार था, जो चावडा वंश का था। उन प्रतिहारों का करद राजा था। इससे एक सम्भावना यह भी है कि उन का ही कोई चार-छः पीढ़ी पहले का पूर्वज उक्त जयवराह रहा हो (द्रष्टव्य हरिवंशपुराण की भूमिका-नाथूराम प्रेमी)।

15. पल्भडभिउडीभंगो पणईयणरोहणीक्काचन्दो।
सिरिवच्छरायणामो णरहत्थी पत्थिवो जइआ ॥—जैन साहित्य संशोधक

पुन्नाट संघ काठियावाड़ में

हरिवंशपुराण के कर्त्ता जिनसेन पुन्नाटसंघ की परम्परा में हुए हैं जैसा कि ग्रन्थ-प्रशस्ति से विदित होता है—

व्युत्सृष्टापरसंघसंततिबृहत्पुन्नाटसंघान्वये ।

वामन शिवराम आप्टे ने अपने संस्कृत—इंगलिश कोश में 'पुन्नाट' का अर्थ 'कर्नाटकदेश' दिया है । कई संस्कृत कोशों में 'नाट' शब्द भी मिलता है और उसका अर्थ भी कर्नाटक किया गया है । अतः पुन्नाट' और 'नाट' दोनों समानार्थक हैं और कर्नाटक देश के द्योतक हैं । टालेमी ने अपने भूगोल में इसी पुन्नाट देश का 'पौनट' नाम से उल्लेख किया है । कन्नड़ी साहित्य में भी 'पुन्नाट' राज्य का प्रचुरता से उल्लेख है । मैसूर जिले की 'होग्गडेवन्कोटे' नाम की तहसील में 'कित्तूर' नाम का ग्राम है, जिसका प्राचीन नाम कीर्त्तिपुर था । यह पुन्नाट-राज्य की राजधानी था ।

आचार्य हरिषेण ने अपने बृहत् कथाकोश के भद्रबाहु कथानक में लिखा है—

अनेन सह संघोऽपि समस्तो गुरुवाक्यतः ।
दक्षिणा-पथ देशस्थ पुन्नाट विषयं ययौ ।।40।।

अर्थात् उनके साथ सारा संघ भी गुरु आज्ञा से चला और दक्षिणापथ के पुन्नाट प्रान्त को प्राप्त हुआ । इससे मालूम होता है कि कन्नडी के समान संस्कृत में भी पुन्नाट शब्द का पुन्नाट देश के अर्थ में व्यवहार होता था । सम्भवतः दक्षिणापथ मे श्रवणबेल्गोल के आसपास के प्रान्त को ही पूर्व काल मे पुन्नाट कहते थे जहाँ कि भद्रबाहुस्वामी का संघ पहुँचा था ।

महाकवि पुष्पदन्त ने अपने आदिपुराण के पाँचवें परिच्छेद मे द्राविड़, गौड़, कर्नाट, वराट, पारस, पारियात्र आदि विविध देशों का उल्लेख करते हुए पुन्नाट का भी नाम लिया है—

द्रविड, गउड-कण्णाड, बराडवि, पारस-पारियाय-पुण्णाडवि ।

इससे मालूम होता है कि अपभ्रंश भाषा के लेखकों के लिए भी पुन्नाट देश अपरिचित नही था । इस पुन्नाट देश के नाम से ही वहाँ के मुनिसंघ का नाम पुन्नाट संघ प्रसिद्ध हुआ होगा । देशों के नाम को धारण करने वाले और भी कई संघ प्रसिद्ध है, जैसे द्रविड़ देश का संघ द्राविड़संघ, मथुरा का माथुरसंघ आदि । पुन्नाट की राजधानी कित्तूर थी, इस कारण जान पड़ता है कि पुन्नाट संघ कित्तूरसंघ भी कहलाता था । श्रवणबेल्गोल के 194 वें नम्बर के शिलालेख (जो शक सम्वत् 622 के लगभग का लिखा हुआ है) में कित्तूर संघ का उल्लेख है । प्रो. हीरालाल इसे पुन्नाट संघ का ही दूसरा नाम होने का अनुमान करते हैं ।

पुन्नाट शब्द का एक अर्थ नागकेसर भी है ।[16] कर्नाटक प्रान्त में नागकेसर

16. द्रष्टव्य—एल० आर० वैद्य की 'दि स्टेण्डर्ड संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी,

कसरत से होती है। वहाँ नाग-केसर के जंगल के जंगल नजर आते हैं। जान पड़ता है इसी कारण इस देश को पुन्नाट संज्ञा प्राप्त हुई होगी।

यों तो मुनिजन दूर-दूर तक सर्वत्र विहार करते ही रहते है परन्तु दोनों देशों की समीपता के कारण पुन्नाट संघ का कर्नाटक से चलकर काठियावाड़ मे पहुँचना असाधारण बात है। इसका सम्बन्ध दक्षिण के चौलुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं से ही जान पड़ता है इनका शासन काठियावाड़ और गुजरात मे बहुत समय तक रहा है, और जिनराजवंशों की जैन धर्म पर विशेष कृपा रही है। अनेक चौलुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं तथा उनके माण्डलिकों ने जैन मुनियों को दान दिये हैं और उनका आदर किया है। उनके बहुत से अमात्य, मन्त्री सेनापति आदि तो जैन धर्म के उपासक तक रहे है। ऐसी दशा मे यह स्वाभाविक है कि पुन्नाटसंघ के कुछ मुनि उन लोगों की प्रार्थना या आग्रह से काठियावाड़ तक आ पहुचे होगे

जिनसेन ने अपने ग्रन्थ की रचना का समय शक सम्वत् मे दिया है और हरिषेण ने शक सम्वत् के साथ विक्रम सम्वत् भी दिया है। उत्तर भारत, गुजरात, मालवादि मे विक्रम सम्वत् का और दक्षिण मे शक सम्वत् का चलन रहा है। जिनसेन को दक्षिण से आये हुए एक दो पीढियाँ ही बीती थी। इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ मे शक सम्वत् का ही उपयोग किया, परन्तु हरिषेण को काठियावाड मे कई पीढ़ियाँ बीत गई थी इसलिए उन्होंने वहा की पद्धति के अनुसार साथ मे विक्रम सम्वत् देना भी उचित समझा होगा।

नन्नराज वसति—वर्द्धमानपुर की नन्नराज वसति में अर्थात् नन्नराज के बनवाये हुए या उसके नाम से उसके किसी वंशधर के बनवाये हुए जैन-मन्दिर मे हरिवंश पुराण लिखा गया था।[17] कन्नड मे नकार के प्रयोगो की दृष्टि से यह नन्नराज नाम भी कन्नड का ही प्रतीत होता है और नन्नराज, ये राष्ट्रकूट वंश के ही कोई राजपुरुष जान पड़ते है क्योंकि इस नाम को धारण करने वाले कुछ राष्ट्रकूट राजा हुए है।[18]

---

17. द्रष्टव्य—हरिवंश पुराण, 66।52
18. मुल्ताई (बैतूल, म० प्र०) मे राष्ट्रकूटों की जो प्रशस्तियां मिली है उनमे दुर्गराज, गोविन्दराज स्वामिकराज और नन्नराज नाम के चार राष्ट्रकूट राजाओं के नाम दिये है।
    पौन्दति के राष्ट्रकूटों की दूसरी शाखा के भी एक राजा का नाम नन्न था। बुद्धगया मे राष्ट्रकूटों का एक लेख मिला है उसमे भी पहले राजा का नाम नन्न है।
    ओझाजी ने दन्तिवर्मा का समय विक्रम सम्वत् 650 के आसपास बतलाया है। उसके बाद इन्द्रराज—गोविन्दराज कर्कराज हुए। कर्क के इन्द्र, ध्रुव, कृष्ण और नन्नराज चार पुत्र हुए। हरिवंशपुराण और कथाकोश की नन्नराज वसति इन्ही नन्नराज के नाम से होगी।

राष्ट्रकूट राजाओं के प्रसिद्ध नामों के साथ-साथ उनके घरु नाम कुछ और भी रहते थे, जैसे कन्न, कन्नर, अण्ण बोद्दण, तुडिगु, बद्दिग आदि। यह नन्न नाम भी ऐसा ही घरेलु नाम प्रतीत होता है।

पुन्नाट संघ का इन दो ग्रन्थों के सिवाय अभी तक और कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिला है, यहाँ तक कि जिस कर्नाटक प्रान्त का यह संघ था वहाँ के भी किसी शिलालेख आदि में भी यह नाम नहीं आया है। जान पड़ता है कि यह संघ पुन्नाट (कर्नाटक) से बाहर जाने पर ही पुन्नाटसंघ कहलाया, जिस तरह कि आजकल जब कोई एक स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान पर जाकर रहते हैं, तब वे अपने पूर्व स्थान वाले कहलाने लगते हैं।

जिनसेन ने अपने समीपवर्ती गिरनार की सिंहवाहिनी या अम्बिकादेवी का उल्लेख किया है और उसे विघ्नों का नाश करने वाली शासन देवी बतलाया है[19] अर्थात् उस समय भी गिरनार पर अम्बादेवी का मन्दिर रहा होगा।

उपरोक्त तथ्यों द्वारा यह ही स्पष्ट होता है कि यह वर्द्धमानपुर सौराष्ट्र का प्रसिद्ध शहर 'बढवाण' ही है जहाँ हरिवंशपुराण की रचना हुई।

जिनसेन द्वारा निर्दिष्ट पूर्ववर्ती विद्वान्

कृतज्ञता प्रकट करते हुए जिनसेन ने अपने से पूर्ववर्ती अनेकों ग्रन्थकर्त्ताओं और विद्वानों का नाम स्मरण करते हुए उनकी प्रशंसा की है। इन पद्यों में निम्न-लिखित आचार्यों और कवियों का वर्णन प्राप्त होता है--

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते॥
जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः॥
इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिव्याकरणेक्षिणः।
देवस्य देववन्द्यस्य न वन्द्यन्ते गिरः कथम्॥
वज्रसूरेर्विचारिण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः।
प्रमाणं धर्मशास्त्राणां प्रवक्तणामिवोक्तयः॥
महासेनस्य मधुरा शीलालंकारधारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना॥
कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता।
मूर्तिः काव्यमयी लोके रवेरिव रवेः प्रिया॥

19. हरिवंश पुराण, 66,44

वरांगनेव सर्वांगवरांगचरितार्थवाक् ।
कस्य नोत्पादयेद् गाढ़मनुरागं स्वगोचरम् ॥
शान्तस्यापि च वक्रोक्ती रम्योत्प्रेक्षाबलान्मनः ।
कस्य नोद्घाटितेऽन्वर्थे रमणीयेऽनुरंजयेत् ॥
योऽशेषोक्तिविशेषेषु विशेषः पद्यगद्ययोः ।
विशेषवादिता तस्य विशेषत्रयवादिनः ॥
आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम् ।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम् ॥
जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः ।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते ॥
याऽमिताभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्त्तिं संकीर्तयत्यसौ ॥
वर्धमानपुराणोद्यदादित्योक्तिगभस्तयः ।
प्रस्फुरन्ति गिरीशान्तः स्फुटस्फटिकभित्तिषु ॥

उपर्युक्त पद्यों में निम्नलिखित आचार्यों और कवियों का वर्णन प्राप्त होता है--

1. **समन्तभद्र**—जैन वाङ्मय में स्वामी समन्तभद्र प्रथम संस्कृत कवि और प्रथम स्तुतिकार हैं। ये कवि होने के साथ प्रकाण्ड दार्शनिक और गम्भीर चिन्तक भी थे। समन्तभद्र क्षत्रिय राजपुत्र थे। इनका जन्म नाम शान्तिवर्मा था किन्तु बाद मे आप समन्तभद्र इस श्रुतिमधुर नामसे लोकमें प्रसिद्ध हुए। इनके गुरुका नाम क्या था ? और इनकी गुरुपरम्परा क्या थी ? यह अभीतक ज्ञात नहीं होसका है। वादी, वाग्मि और कवि होने के साथ-साथ स्तुतिकार होने का श्रेय आपको ही प्राप्त है। आप दर्शनशास्त्र के तत्वदृष्टा और विलक्षण प्रतिभासम्पन्न थे। एक परिचय पद्य में तो आपको दैवज्ञ, वैद्य, मान्त्रिक और तान्त्रिक होने के साथ-साथ आज्ञासिद्ध और सिद्धसारस्वत भी बतलाया है। आपकी सिंह गर्जना से सभी वादाजन काँपते थे। आपने अनेक देशों में विहार किया और वादियो को पराजित कर उन्हें सन्मार्ग का प्रदर्शन किया। आपकी उपलब्ध कृतियां बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं। वे इस प्रकार है—वृहत्स्वयंभूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्डश्रावकाचार, आप्तमीमांसा, स्तुति-विद्या, देवागमस्त्रोत, जीव-सिद्धि, तत्वानुशासन, प्राकृत व्याकरण, प्रमाण प्रदार्थ, कर्मप्राभृत टीका, गन्धहस्ति महाभाष्य।

2. **सिद्धसेन**--श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएं इन्हें अपना मानती है। संक्षेप में सिद्धसेन का समय पूज्यपाद (विक्रम की 6 वी शती) की और

अकलंक (विक्रम की 7 वीं शती) का मध्यकाल अर्थात विक्रम सम्वत् 625 के आसपास होना चाहिये। उनके द्वारा लिखित दो ग्रन्थों का ही अभी तक पता चला है। वे दो रचनायें सन्मतिसूत्र और कल्याण मन्दिर स्तोत्र है।

सिद्धसेन नामक एक से अधिक विद्वान हुए हैं। सन्मतिसूत्र और कल्याण मन्दिर जैसे ग्रन्थों के रचियता सिद्धसेन दिगम्बर सम्प्रदाय में हुए हैं। इनके साथ दिवाकर विशेषण नहीं है। दिवाकर विशेषण श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुए सिद्धसेन के साथ पाया जाता है, जिनकी कुछ द्वात्रिंशिकाएं, न्यायावतार आदि रचनाएं हैं।[20]

3. देवनन्दि--देवनन्दि पूज्यपाद का यह दूसरा नाम है। आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में लिखा है 'जो कवियों में तीर्थंकर के समान थे अथवा जिन्होंने कवियों का पथ-प्रदर्शन करने के लिए लक्षणग्रन्थ की रचना की थी और जिनका वचन रूपी तीर्थ विद्वानो के शब्द सम्बन्धी दोषो को नष्ट करने वाला है ऐसे उन देवनन्दि आचार्य का कौन वर्णन कर सकता है ?[21]

ज्ञानार्णव के कर्ता आचार्य शुभचन्द्र ने इनकी प्रतिभा और वैशिष्ठ्य का वर्णन करते हुए लिखा है जिनकी शास्त्र पद्धति प्राणियों के शरीर वचन और चित्त के सभी प्रकार के मल को दूर करने में समर्थ है। उन देवनन्दि आचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ।

आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद का स्मरण प्रस्तुत पुराण के कर्ता जिनसेन प्रथम ने भी किया है--जो इन्द्र चन्द्र अर्क और जैनेन्द्र व्याकरण का अवलोकन करने वाली है, ऐसी देववन्द्य देवनन्दि आचार्य की वाणी क्यों नहीं वन्दनीय है।[23]

इनका जीवन परिचय चन्द्रय्य कवि के 'पूज्यपाद चरित' और देवचन्द्र के 'राजावलिकथे' नामक ग्रन्थों में उपलब्ध है। श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में इनके नामों के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलते हैं। इन्हें बुद्धि की प्रखरता के कारण 'जिनेन्द्र बुद्धि' और देवों के द्वारा चरणों की पूजा किये जाने से पूज्यपाद कहा गया है। अब तक आपके (1) दशभक्ति (2) जन्माभिषेक (3) तत्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) (4) समाधितन्त्र (5) इष्टोपदेश (6) जैनेन्द्र व्याकरण (7) सिद्धि प्रिय स्तोत्र-ये सात ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं।

20. दृष्टव्य—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा; डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री 1974 संस्करण, पृष्ठ 212
21. दृष्टव्य—आदिपुराण, जिनसेन, 1.52
22. ज्ञानार्णव, 1.15, रायचन्द्रशास्त्रमाला संस्करण विक्रम सम्वत् 217
23. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा 1974, पृष्ठ 224

4. **वज्रसूरि**--ये देवनन्दी के शिष्य, द्राविड़संघ के संस्थापक, वज्रनन्दि जान पडते हैं। जिनसेन ने इनके विचारों को प्रवक्ताओं या गणधर देवों के समान प्रमाण-भूत बतलाया है और उनके किसी ऐसे ग्रन्थ की ओर संकेत किया है जिसमें बन्ध और मोक्ष तथा उनके हेतुओं का विवेचन किया गया है। दर्शनसार के उल्लेखानुसार आप छठी शती के प्रारम्भ के विद्वान् ठहरते हैं। वज्रसूरि, ऐद, चान्द्र, जैनेन्द्र, व्याडि आदि व्याकरणों के पारगामी थे।[24]

5. **महासेन**--जिनसेन ने आपको सुलोचना कथा का कर्त्ता कहा है। आपका विशिष्ट परिचय अज्ञात है।

6. **रविषेण**--रविषेणाचार्य ने संस्कृत में लोकप्रिय पौराणिक चरित काव्य का ग्रन्थन किया है। पौराणिक चरित काव्य रचियता के रूप में रविषेण का सार-स्वताचार्यों मे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आचार्य रविषेण सेनसंघ या गणगच्छ के थे, तथा इनका समय जैसा कि इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ पद्मचरित की समाप्ति मे निर्देश किया है 'भगवान महावीर के निर्वाण प्राप्त करने के 1203 वर्ष 6 माह बीत जाने पर पद्ममुनि का यह चरित्र निबद्ध किया। इस प्रकार इनकी रचना विक्रम सम्वत् 734 (ई० सन् 677) मे पूर्ण हुई है। वीर निर्वाण सम्वत् कार्तिक कृष्णा 30 विक्रम सम्वत् 469 पूर्व से ही भगवान महावीर के मोक्ष जाने की परम्परा प्रचलित है। इस तरह छः मास का समय और जोड़ देने पर बैशाख शुक्ल पक्ष विक्रम सम्वत् 734 रचना तिथि आती है।[25]

7. **जटासिंह नन्दि**--पुराणकाव्य के निर्माता के रूप में जटाचार्य का नाम विशेषरूप से प्रसिद्ध है। जिनसेन, उद्योतनसूरि आदि प्राचीन आचार्यो ने जटासिंह नन्दि की प्रशंसा की है। जिनसेन ने इनका नामोल्लेख न कर इनके वरांगचरित का उल्लेख किया है। ये बड़े भारी तपस्वी थे। इनका समाधिमरण 'कोप्पण' में हुआ था। कोप्पण के समीप की 'पल्लव की गुण्डु' नाम की पहाडी पर इनके चरण चिन्ह भी अंकित है और उनके नीचे दो लाइन का पुरानी कनड़ी का एक लेख भी उत्कीर्ण है। जिसे 'चाप्यय' नामके व्यक्ति ने तैयार कराया था। इनकी एक मात्र कृति वरांग-चरित डा० ए. एन. उपाध्याय द्वारा सम्पादित होकर माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है। उपाध्यायजी ने जटासिंहनन्दि का समय 7 वीं शती निश्चित किया है।

24. नाथूराम प्रेमी . जैन साहित्य और इतिहास, संस्करण, 1956, पृष्ठ 123
25. नेमीचन्द्र शास्त्री : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा; 1974, पृष्ठ 277

8. **शान्त**–आपका पूरा नाम शान्तिषेण जान पड़ता है। आपकी उत्प्रेक्षा अलंकार से युक्त वक्रोक्तियों की प्रशंसा की गई है। आपका कोई काव्य ग्रन्थ होगा। जिनसेन नेअपनी गुरुपरम्परा का वर्णन करते हुए जयसेन के पूर्व एक शान्तिषेण आचार्य का नामोल्लेख किया है। बहुत कुछ सम्भव है कि यह शान्त वही शान्तिषेण हों।

9. **विशेषवादि**--इनके किसी ऐसे ग्रन्थ की ओर संकेत है जो गद्य-पद्य मय है और जिनकी उक्तियों में बहुत विशेषता है। वादिराज ने भी अपने पार्श्वनाथ चरित मे इनका स्मरण किया है और कहा है कि उनकी रचनाओं को सुनकर अनायास ही पण्डितजन विशेषाभ्युदय को प्राप्त कर लेते है। [26]

10. **कुमारसेन गुरु**--जिनका यश प्रभाचन्द्र[27] के समान उज्जवल और समुद्र पर्यन्त विस्तृत है। चन्द्रोदय ग्रन्थ के रचयिता प्रभाचन्द्र के आप गुरु थे। आपका निर्मल सुयश समुद्रान्त विचरण करता था। इनका समय निश्चित नही है। चामुण्डराय पुराण के पद्य नं० 15 मे भी इनका स्मरण किया गया है।
डॉ० उपाध्याय ने आपका परिचय देते हुए जैन संदेश के शोधांक 12 मे लिखा है कि मूलगुण्ड नामक स्थान पर आत्म त्याग को स्वीकार करके कोप्पणाद्रिपर ध्यानस्थ हो गये तथा समाधिपूर्वक मरण किया।

11. **वीरसेन गुरु** --प्रस्तुत पुराणकार ने कवि चक्रवर्ती के रूप में वीरसेन आचार्य का स्मरण किया है और कहा है कि जिन्होंने स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों को जीत लिया है तथा जो कवियों के चक्रवर्ती है, ऐसे वीरसेन स्वामी की निर्मल कीर्ति प्रकाशित हो रही है। [58]

आचार्य वीरसेन सिद्धान्त के पारगंत विद्वान् तो थे ही, साथ ही गणित, न्याय, ज्योतिष, व्याकरण आदि विषयों का भी तलस्पर्शी पाण्डित्य उन्हें प्राप्त था। इनका बुद्धि वैभव अत्यन्त अगाध और पाण्डित्यपूर्ण है। वीरसेन स्वामी के शिष्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण एवं धवला प्रशस्ति में इनको 'कविवृन्दारक' कह कर स्तुति की है।

वीरसेन पंचास्तुपान्वय के आचार्य चन्द्रसेन के प्रशिष्य और आर्यनन्दि के शिष्य तथा महापुराण आदि के कर्त्ता जिनसेन के गुरु थे। आप षट्खंडागम पर बहत्तर हजार

26. विशेषवादिगीगुंम्फश्रवणाबद्धयः।
अक्लेशादधिगच्छति विशेषाभ्युदय बुधाः ॥29॥ पा० च०
27. आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन ने भी प्रभाचन्द्र का स्मरण किया है---
चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥ आदि-श्लोक 1।37 से 40
28. हरिवंशपुराण, 1।39

श्लोक प्रमाण धवला टीका तथा कषाय-प्राभृत पर बीस हजार श्लोक जयधवला टीका लिखकर दिवगंत हुए थे। जिनसेन ने उन्हे कवियों का चक्रवर्ती तथा अपने आपके द्वारा परलोक का विजेता कहा है। आपका समय विक्रम की 9 वीं शती का पूर्वार्द्ध है।

12. **जिनसेन स्वामी**--जिनसेन स्वामी वीरसेन गुरु के शिष्य थे। हरिवंश पुराण के कर्त्ता जिनसेन ने आपके पार्श्वाभ्युदय ग्रन्थ की ही चर्चा की है जब कि आप महापुराण तथा कषाय प्राभृत की अवशिष्ट चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका के भी कर्त्ता है। इससे जान पड़ता है कि हरिवंशपुराणकार के समय उन्होने पार्श्वाभ्युदय की ही रचना की होगी। जयधवला और महापुराण की रचना तो उनकी अन्तिम कृति कही जा सकती है, जिसे वे पूरा नही कर सके। फिर उनके सुयोग्य शिष्य गुणभद्र ने उसे पूरा किया। आपका समय 9 वी शती है।

13. **वर्धमान पुराण के कर्त्ता**—जिनसेन ने वर्धमानपुराण का उल्लेख किया है परन्तु इसके कर्त्ता का नाम नही लिखा है। जान पड़ता है उनके समय का कोई ग्रन्थ रहा होगा, परन्तु सम्प्रति उपलब्ध नही है।

हरिवंशपुराण का उपजीव्यत्व

जिस प्रकार जिनसेन के महापुराण का आधार कवि परमेष्ठी का 'वागर्थ संग्रह" पुराण है उसी प्रकार हरिवंशपुराण का आधार भी कुछ न कुछ अवश्य रहा होगा। जिनसेन ने प्रकृत ग्रन्थ के अन्तिम सर्ग में भगवान महावीर से लेकर 683 वर्ष तक की और उसके बाद अपने समय तक की जो विस्तृत आचार्य परम्परा दी है। उससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इनके गुरु कीर्तिषेण थे। सम्भवतः हरिवंश की कथावस्तु उन्हें अपने गुरुजी से प्राप्त हुई होगी।

उद्योतन सूरि (विक्रम सम्वत् 835) ने अपनी कुवलयमाला में जिस तरह रविषेण के पद्मचरित और जटासिंह नन्दी के वरांगचरित की स्तुति की है उसी तरह हरिवंश की भी की है।[29] उन्होंने लिखा है कि मैं हजारों बुधजनों के प्रिय, हरिवंशोत्पत्तिकारक, प्रथमवन्दनीय और विमलपद हरिवंश की वन्दना करता हूँ। यहां 'विमल' से हरिवंश के विमल पद प्रयोगों के साथ 'विमल की रचना' यह ध्वनि भी प्राप्त होती है। यह 'विमल' कौन थे? यह अज्ञात है। इन के हरिवंश का भी कोई पता नही है। हो सकता है कि जिनसेन से पूर्व किसी विमल या विमल सूरि ने भी 'हरिवंश' लिखा हो, जिसकी ओर उद्योतन सूरि ने निर्देश किया है। यदि ऐसा रहा हो तो विमल का हरिवंश भी जिनसेन की अनुभूति का स्रोत रहा हो सकता है।

29. बुहजण सहस्स दइयं हरिवंसुप्पत्ति कारयं पढमं।

हरिवंश का लोक विभाग एवं शलाकापुरुषों का वर्णन 'त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति से मेल खाता है।[30] द्वादशांग का वर्णन राजवार्तिक के अनुरूप है। संगीत का वर्णन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से अनुप्राणित है और तत्त्वों का निरूपण तत्त्वार्थसूत्र तथा सर्वार्थसिद्धि के अनुकूल है। इससे ज्ञात पड़ता है कि आचार्य जिनसेन ने इन सब ग्रन्थों का अच्छी तरह आलोड़न किया है। हरिवंश के अध्ययन से हरिवंश पर कालिदास आदि अन्य अनेकों का प्रभाव भी लक्षित होता है, और उनकी रचना इन कृतियों को भी अपना उपजीव्य बना कर चली प्रतीत होती है।

हरिवंशकार की गुरु परम्परा

आचार्य जिनसेन ने अनेक परम्पराओं का उल्लेख किया है। भार्गव ऋषि की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि भार्गव का प्रथम शिष्य आत्रेय था, उसका शिष्य कोथुमि पुत्र, कोथुमि का अमरावर्त, अमरावर्त का सित, सित का वामदेव, वामदेव का कपिमूल, कपिमूल का जगत्स्थामा, जगत्स्थामा का सरवट, सरवट का शरासन, शरासन का रावण और रावण का विद्रावण और विद्रावण का पुत्र द्रोणाचार्य था।[31] जैन पुराणों मे यह परम्परा इस रूप में अन्यत्र देखने को नही मिलती।

हरिवंशपुराण के 66वें सर्ग मे महावीर भगवान से लेकर लोहाचार्य तक की आचार्य परम्परा दी गई है। वहां बताया गया है कि भगवान महावीर के निर्वाण के बाद[32] मे क्रमशः गौतम, सुधर्म और जम्बुस्वामी—ये तीन केवली हुए। उनके बाद सौ वर्ष में समस्त पूर्वों को जानने वाले नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवलि हुए। तदन्तर 183 वर्ष मे विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह मुनि दस पूर्व के धारक हुए। उनके बाद दोसौ बीस वर्षमे नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंसार्य ये पांच मुनि ग्यारह अंग के धारी हुए। तदन्तर एक सौ अट्ठारह वर्ष में सुभद्रगुरु, जयभद्र, यशोबाहु और महापूज्य लोहार्यगुरु ये चार मुनि प्रसिद्धआचारांग के धारी हुए।

इनके बाद महातपस्वी विनयन्धर, गुप्तऋषि, मुनीश्वर, शिवगुप्त, अर्हद्बलि, मन्दरार्य, मित्रविरवि, बलदेव, मित्रक, सिंहबल, वीरवित् पद्मसेन, व्याघ्रहस्त,

30. ब्रह्मचारी जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर से प्रकाशित त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति के द्वितीय भाग की प्रस्तावना मे उसके सम्पादक डा० हीरालालजी और स्व० डा० ए० एन० उपाध्याय ने त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति की अन्य ग्रन्थों के साथ तुलना करते हुए हरिवंश के साथ भी उसकी तुलना की है और दोनो के वर्णन मे कहां साम्य और कहां वैषम्य है ? इसकी अच्छी चर्चा की है।

31. हरिवंशपुराण, 45।45–47

नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, स्वामी दिग्सेन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन. सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन और शान्तिसेन आचार्य हुए। तदनन्तर जयसेन हुए जो षट्खण्डों (जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबन्ध) के ज्ञाता कर्मप्रकृतिरूप श्रुत के धारक थे। उनके शिष्य अमितसेन गुरु हुए जो प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और समस्त सिद्धान्तज्ञान में पारगामी थे। ये अमितसेन शतायु पुन्नाटगण के आचार्य और शास्त्रोपदेष्टा थे। इन्हीं अमितसेन के अग्रज धर्मबन्धु धर्मावतार और पुण्यकीर्तिशाली कीर्तिषेण मुनि थे जो बहुत ही शान्त और पूर्ण बुद्धिमान् थे। आचार्य जिनसेन उनके ही प्रमुख शिष्य हुए। इन जिनसेन ने ही इस महान् ग्रन्थ–हरिवंश पुराण की रचना की है।

महावीर के निर्वाण की वर्तमान काल गणना के अनुसार विक्रम सम्वत् 213 तक लोहार्यका अस्तित्व समय है और जिनसेन का सम्वत् 840 है, अर्थात् दोनों के बीच मे यह जो 627 वर्ष का अन्तर है जिनसेन ने उसी बीच के उपर्युक्त 29-30 आचार्य बतलाये हैं। यदि प्रत्येक आचार्य का समय इक्कीस बाईस वर्ष गिना जाय तो यह अन्तर लगभग ठीक बैठ जाता है।

वीर निर्वाण से लोहार्य तक अट्ठाईस आचार्य बतलाये गये हैं और उन सबका संयुक्त काल 683 वर्ष अर्थात् प्रत्येक आचार्य का औसत काल 24 वर्ष के लगभग पड़ता है और इस तरह दोनों कालों की औसत भी लगभग समान बैठ जाती है।

इस विवरण से हम यह मान सकते है कि हरिवंश पुराण ने वीर निर्वाण के बाद से विक्रम सम्वत् 840 तक की गुरु परम्परा को सुरक्षित रखा है। इस दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का पर्याप्त महत्त्व है।

हरिवंशपुराण का विषय

हरिवंशपुराण में जिनसेनाचार्य ने हरिवंश की एक शाखा यादवकुल और उसमें उत्पन्न हुए दो श्लाका पुरुषों कृष्ण और नेमिनाथ का चरित्र चित्रण विशेष रूप से किया है। परन्तु प्रसंगोत्पात अन्य कथानक भी इसमें लिखे गये हैं। ग्रन्थकार ने भी प्रत्येक सर्ग के पुष्पिका वाक्यों में इसे "अरिष्टनेमिपुराण संग्रहे" कह कर इस तथ्य की ओर इंगित किया है।

जैन मान्यता के अनुसार श्रीकृष्ण नारायण थे। वे नियोग से ही तीन खण्ड पृथ्वी के अधीश्वर अर्धचक्री थे। पूर्णचक्री से ठीक आधे यामी सात रत्न अर्धचक्री के कोषागार में जन्म लेते हैं। नारायण प्रधानतया कर्म पुरुष होता है। वह लोक में लौकिक शौर्य, प्रताप और ऐश्वर्य का अकेला प्रभु होता है। उसकी लीला में कौतुक,

कौतूहल, शौर्य, सम्मोहन और प्रणय का प्राधान्य होता है। लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण के व्यक्तित्व में इन वृत्तियों का प्रकाश पूर्णतया सांगोपांग हुआ है। त्रिखण्ड विजय के उपरान्त उस-कर्म पुरुष के विभव-स्वप्न को मूर्त करने के लिए समुद्र में देवों ने द्वारिका रची थी।

तीर्थंकर नेमिनाथ को कैवल्य प्राप्त होने पर उन्होंने अपने समवशरण में यह भविष्यवाणी की थी कि यादव-पुत्र द्वैपायन के हाथों ही द्वारिका का दहन होगा और अपने ही भाई जरत्कुमार के हाथों कृष्ण की मृत्यु होगी। उस समय छप्पन करोड़ यादवों की भृकुटियां टेढ़ी हो गयी थीं। कुमार द्वैपायन उसी क्षण दीक्षा लेकर वहां से चल दिये और जरत्कुमार भी इस पातक से बचने के लिए दूर देशान्तरों मे चले गये। पर उस अकाण्ड को टालने के सारे निमित्त व्यर्थ हुए और तीर्थंकर की वाणी सत्य हुई। यादवों के अपने ही क्रीड़ा-कौतुक ने उनका आत्मनाश किया। ऐसी थी उस लीला-योगी की लीला। द्वारिका-दहन और यदुकुल के नाश के बाद कृष्ण उत्तर मथुरा की ओर जाते हुए एक जगल में सोये विश्राम ले रहे थे, भाई बलराम उनके लिए जल लेने गये थे। तभी जंगल में निर्वासन लेकर भटकता जरत्कुमार उधर आ निकला। हरि के पग-तल की मणिको हिंस्र पशु की आंख जान उसने तीर चलाया। वह नारायण के पग-तल की प्राण-मणि को बींध गया। त्रिखंड पृथ्वी का अविजित प्रभु अन्तिम क्षण में भाई को क्षमा कर ज्ञानी बन गया और किसी आगामी भव के लिए तीर्थंकर प्रकृति बांध कर तत्काल देह त्याग कर गया।

कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कामकुमार थे। कामकुमार जन्म से ही कामदेव का रूप लेकर अवतरित होता है और चरम शरीरी, अघात्य तथा तद्भव मोक्षगामी होता है वह स्वभाव से ही बहुत लीला-प्रिय, कौतुकी और साहसी होता है। वह रोमांटिक नायक की पूर्णतम कल्पना को हमारे समक्ष मूर्तिमान करता है। प्रद्युम्न को शिशु-वय में ही पूर्वभव के वैरी ने उसे एक प्रचण्ड शिला के नीचे दबाकर मार देना चाहा था, पर चरम शरीरी कामदेव अघात्य था। उसका घात न हो सका, प्रहार के तले भी वह क्रीड़ा ही करता रहा।

प्रद्युम्न ने अपने पूर्व नियोग के चौदह वर्ष-व्यापी स्वजन-विछोह में कई देश-देशान्तरों का भ्रमण कर अपनी शक्ति, प्रतिभा, शौर्य और सौन्दर्य से अनेक सिद्धियों और विद्याओं का लाभ किया था। अपनी युवा भौंहों के मोहक दर्प और अपने ललाट के मधुर तेज से उस आवारा और अनजान राजपुत्र ने अनगिनत कुल-कन्याओं और लोक की श्रेष्ठ सुन्दरियों के हृदय जीते थे। यही हाल कृष्ण के पिता

वसुदेव का भी था। उनके एक-एक नयन--विक्षेप पर सारे जनपद का रमणीत्व पागल और मूर्च्छित हो जाता था। ऐसी निराली थी इन हरि-वंशियों की वंशजात मोहिनी।

इन शलाका पुरुषों के दिग्विजय, देशाटन, समुद्र-यात्रा, साहसिक वाणिज्य व्यवसाय और अन्ततः ब्रह्म-साधना की बड़ी ही सार्थक और लाक्षणिक कथाओं से प्रकृत-पुराण ओत प्रोत है।

तृतीय अध्याय

जैन-पुराण साहित्य और उसमें हरिवंशपुराण का स्थान

जैन पुराण साहित्य

जैन-पुराण वाङ्मय विशद एवं विस्तृत है। अब तक भी अनेक पुराण ग्रन्थ अप्रकाशित एवं अज्ञात रूप से विभिन्न भण्डारों में दबे पड़े हुए हैं। अतः उनकी संख्या कितनी है यह नहीं कहा जा सकता। जैन-पुराण साहित्य मुख्यतः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं कन्नड़ भाषाओं में उपलब्ध हुआ है।

जिनसेनाचार्य ने अपने महापुराण (आदिपुराण) में पुराण की व्याख्या 'पुरातनं पुराणं स्यात्' से की है। आगे उन्होंने बतलाया है कि वे अपने इस ग्रन्थ में त्रेसठ शलाका पुरुषों का पुराण कह रहे हैं। अन्य आचार्यों के मत का निर्देश करते हुए कहते हैं कि कोई कोई 24 तीर्थकरों के ही चौबीस पुराण मानते हैं क्योंकि उनमें अन्य शलाका पुरुषों (चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव व प्रतिवासुदेव) का भी समावेश हो जाता है, और इन सभी पुराणों का जिसमें संग्रह हो वह महापुराण कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसमे एक शलाका पुरुष का वर्णन हो वह पुराण तथा जिसमें एकाधिक (अनेक) शलाका पुरुषों का वर्णन हो वह महापुराण कहलाता है।

जिनसेनाचार्य ने आगे कहा कि उनके इस ग्रंथ में जिस धर्म का वर्णन है उसके सात अंग हैं—द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत। तात्पर्य यह है कि पुराण में षड्द्रव्य, सृष्टि, तीर्थस्थापना, पूर्व और भविष्य जन्म, नैतिक और धार्मिक उपदेश, पुण्य-पाप के फल और वर्णनीय कथावस्तु अथवा सत्पुरुष के चरित का वर्णन होता है। इसी चरितात्मक वस्तु के कारण ऐसी रचनाओं को चरित भी कहा गया है। श्वेताम्बरों की प्रायः जितनी भी रचनायें तीर्थंकरों के जीवन सम्बन्धी मिलती हैं उन्हें चरित ही कहा गया है, परन्तु दिगम्बर लेखकों ने उन्हें पुराण व चरित दोनो ही संज्ञायें दी हैं। इससे यह स्पष्ट है कि शलाका पुरुषों के जीवन सम्बन्धी जो जो कृतियां रची गयीं उन्हें चाहे पुराण कहें, या चरित कहें, इससे कोई भेद उपस्थित नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि पुराण और चरित एकार्थवाची ही हैं, यदि उनमे त्रेसठ शलाका पुरुषों में से किसी एक का या अनेक का

चरित वर्णित हो। आगे चलकर हम देखते हैं कि पुराण और चरित दोनों ही इस परिभाषा में अनुबद्ध नहीं रहे। शलाका पुरुषों के अतिरिक्त अनेक महापुरुषों के काल्पनिक चरितों को भी पुराण या चरित कहा गया है। विशेषतः चरित बहुत ही विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। चरित का अभिप्राय रहा है जीवनी और वह जीवनी चाहे शलाका पुरुष की हो या कोई धार्मिक अथवा वीरपुरुष की या किसी काल्पनिक पुरुष की ही क्यों न हो, उन सबको चरित की संज्ञा दी गई है।

उपलब्ध जैन-पुराण साहित्य में प्राचीनतम कृति प्राकृत भाषा में है। यह विमलसूरि (530 वि० सं०) की पउमचरियं (पद्मचरितम्) नामक रचना है। इसमें आठवें बलदेव राम (पद्म), वासुदेव, लक्ष्मण तथा प्रतिवासुदेव रावण का चरित वर्णित है। कितनी ही बातों में इसकी कथा वाल्मीकी रामायण से भिन्न है। यह रचना 118 उद्देशों में विभक्त है। कहीं कहीं पर अलंकारों के प्रयोग तथा रसभावात्मक वर्णनों के होते हुए भी इसकी शैली रामायण व महाभारत जैसी ही है।

संस्कृत भाषा में भी प्रथम जैनपुराण राम संबंधी है जो रविषेणाचार्य (735 वि० सं०) का पद्मचरित है। इसमें 123 पर्व है तथा कुछ वर्णनात्मक विस्तार के सिवाय यह विमलसूरि के पउमचरिय की प्रतिकृति मात्र है।

प्राकृत व सस्कृत की तरह अपभ्रंश भाषा में भी प्रथम उपलब्ध जैनपुराण पउमचरिउ है जो स्वयंभूदेव (897-977 वि० सं०) की रचना है। यह पाँच काण्डों तथा 90 सन्धियों में विभक्त है। इसकी कथा रविषेणाचार्य की कृति के अनुसार ही है।

पद्मपुराण, हरिवंशपुराण तथा महापुराण (आदि व उत्तरपुराण) के पश्चात् अलग अलग तीर्थंकरों के जीवन चरित बहुतायत से पाये जाते है। 10 वीं शती से 18 वीं शती तक की बहुत सी रचनायें उपलब्ध होती हैं, जिनमें से निम्न उल्लेखनीय हैं:

प्राकृत भाषा मे आदि तीर्थंकर ऋषभ पर अभयदेव के शिष्य वर्धमानसूरि (1160 वि० स०) की रचना प्राप्त है। 11000 श्लोक प्रमाण यह ग्रन्थ पांच परिच्छेदों मे विभक्त है। भुवनतुंग का ऋषभदेव चरित 323 गाथाओं में निबद्ध है।

अमरचन्द (13वीं शती) का संस्कृत पद्मानन्द काव्य 19 सर्गों में आदिनाथ के जीवन चरित्र संबंधी है। विनयचन्द्र का आदिनाथ चरित्र 1474 वि० सं० की रचना है। अन्य रचनाएँ भ० सकलकीर्ति (15वीं शती), चन्द्रकीर्ति (17वीं शती), शान्तिदास, धर्मकीर्ति आदि की हैं। हस्तिमल्ल ने गद्यात्मक आदिनाथ पुराण रचा। ललितकीर्ति का आदिपुराण जिनसेनाचार्य के आदिपुराण पर टीका मात्र है।

नेमिकुमार के पुत्र वाग्भट्ट ने काव्य-मीमांसा में अपने ऋषभदेव चरित का उल्लेख किया है।

अपभ्रंश में रइधू (16वीं शताब्दी वि० सं०) का आदिपुराण उल्लेखनीय है।

द्वितीय तीर्थंकर पर अजीतनाथपुराण बुधराघव के शिष्य अरुणमणि (1716 वि० सं०) की संस्कृत रचना है। अपभ्रंश में सं० 1505 की विजयसिंह की रचना उपलब्ध है।

तृतीय तीर्थंकर पर संभवनाथ-चरित्र की रचना मेरुतुंगसूरि ने सं० 1413 में की थी। तेजपाल ने भी इसी नाम से अपभ्रंश में रचना की है।

चतुर्थ तीर्थंकर अभिनन्दननाथ के चरितों का उल्लेख मात्र मिलता है।

पांचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ चरित के रचनाकार विजयसिंह के शिष्य सोमप्रभ (12वीं शताब्दी) थे। यह ग्रन्थ प्राकृत में 9621 ग्रन्थाग्र प्रमाण है। संस्कृत में भी इस विषयक रचना का उल्लेख मिलता है।

छठे तीर्थंकर पर पद्मचरित प्राकृत में देवसूरि ने 1254 वि० सं० में रचा। संस्कृत में शुभचन्द्र का पद्मनाभपुराण 17वीं शती का है। विद्याभूषण और सोमदत्त के भी पद्मनाभ पुराण प्राप्त है। देवप्रभसूरि के शिष्य सिद्धसेन ने भी पद्मचरित रचा था।

सातवें तीर्थंकर सम्बन्धी सुपार्श्वनाथचरित प्राकृत में हर्षपुरीय गच्छ के लक्ष्मणगणि ने 1188 वि० स० में रचा। यह रचना उत्कृष्ट कोटि की 9000 गाथा प्रमाण है। देवसूरि की भी इसी नाम से प्राकृत रचना मिलती है।

आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु पर प्राकृत में वीरसूरि (1138 वि० सं०) यशोदेव (सं० 1178), चन्द्रसूरि के शिष्य हरिभद्र (1123 वि० सं०) तथा जिनवर्धनसूरि की कृतियाँ हैं। अपभ्रंश रचना यशःकीर्ति की (15वीं – 16वीं शती) 11 सन्धियों में प्राप्त है। देवेन्द्र (सं० 1264) की रचना संस्कृत व प्राकृतमय है। संस्कृत मे असग (11वीं शती), वीरनन्दि (11वीं शती), गुणरत्न के शिष्य सर्वानंद (स० 1302), शुभचन्द्र (16वीं–17वीं शती) तथा दामोदर कवि (सं० 1727) की रचनायें उपलब्ध हैं। अग्धसेन के चन्द्रप्रभ चरित का भी उल्लेख आता है। 17 वीं शती की शिवाभिराम की रचना भी मिलती है जो सात सर्गों में विभक्त है।

नौवें तीर्थंकर पुष्पदन्त के जीवन पर कोई रचना नहीं मिलती। नन्दिताढ्य कृत गाथालक्षण के टीकाकार रत्नचन्द्र ने उसमें आये हुए दो पद्यों पर टीका

करते हुए बतलाया है कि ये पद्य एक प्राकृत रचना पुष्पदन्त चरित में से लिये गये हैं।

दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ के चरितों के बारे में सिर्फ उल्लेख ही प्राप्त होते हैं।

ग्यारहवें तीर्थंकर पर श्रेयांसचरित जिनदेव के शिष्य हरिभद्र ने सं० 1172 में तथा अजितसिंहसूरि के शिष्य देवभद्र ने 11000 ग्रन्थाग्र प्रमाण प्राकृत में रचे थे। संस्कृत में मानतुंग (स० 1332) की कृति प्राप्त है। सुरेन्द्रकीर्ति के श्रेयांस पुराण का भी उल्लेख आता है।

बारहवें तीर्थंकर पर प्राकृत में वासुपूज्यचरित 8000 ग्रन्थाग्र प्रमाण चन्द्रप्रभ की रचना है, तथा संस्कृत में वर्द्धमानसूरि (सं० 1299) की 6000 ग्रन्थाग्र प्रमाण रचना है।

तेरहवें तीर्थंकर पर विमलचरित प्राकृत मे रचे जाने का उल्लेख आता है। संस्कृत में ज्ञानसागर ने खंभात में सं० 1517 में 5 50 ग्रंथाग्र प्रमाण पाँच सर्गों में विमलनाथ चरित रचा था। कृष्णदास का विमलनाथ पुराण 10 सर्गों में विभक्त है तथा 2300 श्लोक प्रमाण है। इन्द्रहंसगणि ने सं० 1558 में संस्कृत मे विमलचरित रचा था। रत्ननन्दि का भी विमलनाथ-पुराण मिलता है।

चौदहवें तीर्थंकर पर प्राकृत में अनन्तनाथचरित के लेखक आम्रदेव के शिष्य नेमिचन्द्रसूरि हैं जिन्होंने सं० 1213 में 1 00 गाथा प्रमाण अपना ग्रंथ लिखा था। वासवसेन अनन्तनाथ पुराण के रचयिता माने जाते हैं।

पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ पर प्राकृत रचना का उल्लेखमात्र है। हरिश्चन्द्रकृत एक उत्कृष्ट संस्कृत काव्य है जो 21 सर्गों में निबद्ध है। इसका नाम धर्मशर्माभ्युदय काव्य है। इस पर शिशुपालवध, गउडवहो और नैषधीय चरित का प्रभाव स्पष्ट है। नेमिचन्द्र (सं० 1216) और सकलकीर्ति (15वीं शती) की रचनाओं के भी उल्लेख मिलते हैं।

सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ के जीवन सम्बन्धी कई चरित रचे गये हैं। प्राकृत में प्रथम कृति देवचन्द्रसूरि (सं० 1160) की मिलती है। यह 12000 ग्रंथाग्र प्रमाण है। मुनिभद्र की रचना (सं० 1410) की है। सोमप्रभसूरि की भी प्राकृत रचना मिलती है। अपभ्रंश में महीचन्द्र ने दिल्ली मे सं० 1587 में "सतीणाह-चरिउ" रचा था। संस्कृत में असग (11वीं शती) का शान्तिनाथ पुराण 16 सर्गों में निबद्ध है। इनका एक लघु शान्तिपुराण भी मिलता है। अजितप्रभसूरि (सं० 1307) का शान्तिनाथचरित 6 सर्गों मे विभक्त 5000 श्लोक प्रमाण है। मुनि देव-सूरि की कृति (सं० 1322), देवचन्द्र सूरि की प्राकृत रचना पर आधारित मानी

जाती है। माणिक्यचन्द्र की रचना (13वीं शती) 8 सर्गों में करीब 6000 ग्रंथाग्र प्रमाण मिलती है। सकलकीर्ति (15वीं शती) तथा श्रीभूषण (सं० 1659) के भी शान्तिनाथ पुराण उपलब्ध हैं। प्रथम 16 सर्ग प्रमाण है। कनकप्रभ की रचना 485 तथा रत्नशेखरसूरि की करीब 7000 ग्रन्थाग्र प्रमाण प्राप्त हैं। अपभ्रंश रचनाकारों में भावचन्द्र (सं० 1535) तथा उदयसागर उल्लेखनीय हैं। अन्य ग्रन्थकारों में ज्ञानसागर, हर्षभूषणगणि, वत्सराज, शान्तिकीर्ति, गुणसेन, ब्रह्मदेव, ब्रह्मजयसागर इत्यादि हैं। मेघविजय का शान्तिनाथ चरित भी उल्लेखनीय है।

सत्तरहवें कुन्थुनाथ के चरितकारों में पद्मप्रभ अथवा विबुधप्रभसूरि (13वीं शती) का नाम आता है जिन्होंने अपनी रचना संस्कृत में की थी।

अठारहवें अरहनाथ पर प्राकृत और संस्कृत में रचनायें की जाने का उल्लेख है परन्तु अद्यावधि अनुपलब्ध है।

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ के प्राकृत चरितकारों में जिनेश्वरसूरि (सं० 1175) का नाम आता है। इनकी रचना 5555 ग्रंथाग्र प्रमाण है। चन्द्रसूरि के शिष्य हरिभद्र की कृति तीन अध्यायों मे 9000 ग्रन्थाग्र प्रमाण है। भुवनतुंगसूरि का ग्रन्थ 500 ग्रंथाग्र प्रमाण तथा एक और अनाम कृति 105 ग्रन्थाग्र प्रमाण उपलब्ध हैं। अपभ्रंश में जिनप्रभसूरि की 50 पद्य-प्रमाण रचना है। जयमित्र हल का भी मल्लिनाथ पुराण उपलब्ध है। संस्कृत में प्रद्युम्नसूरि के शिष्य विनयचन्द्र का मल्लिनाथ चरित 4250 ग्रन्थाग्र प्रमाण 8 सर्गों में निबद्ध है। यह सं० 1474 के आसपास की रचना है. सकलकीर्ति (15वीं शती) भी मल्लिनाथ पुराण के रचयिता हैं। अन्य ग्रन्थकारों मे शुभवर्धन, विजयसूरि, प्रभाचन्द्र व नागचन्द्र उल्लेखनीय हैं।

बीसवें तीर्थंकर पर श्रीचन्द्रसूरि ने प्राकृत में 11,000 गाथा–प्रमाण मुनिसुव्रतनाथ चरित सं० 1193 मे रचा था। पद्मप्रभ की संस्कृत कृति (सं० 1294) 5555 ग्रंथाग्र प्रमाण तथा मुनि रत्नसूरि की रचना 23 सर्गों में निबद्ध करीब 7000 ग्रन्थाग्र प्रमाण है। कृष्णदास का मुनिसुव्रतपुराण (सं० 1681) 23 सर्गों में समाप्त हुआ है तथा अर्हद्दास का 10 सर्गों मे जिसका अपरनाम काव्य रत्न है। केशवसेन, सुरेन्द्रकीर्ति तथा हरिषेण अन्य पुराणकार गिने गये हैं।

इक्कीसवें तीर्थंकर पर नेमिनाथपुराण सकलकीर्ति की संस्कृत रचना है। अन्य नेमिचरितों के उल्लेख मात्र मिलते हैं।

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ पर प्राकृत रचनाओं में जिनेश्वरसूरि का नेमिनाथचरित सं० 1175 की कृति है। रत्नसूरि की अपभ्रंशमय रचना वि० सं० 1233 की है। संस्कृत में प्रथम रचना सूराचार्य (1090 वि० सं०) की नेमिनाथ चरित

है। सोम के पुत्र वाग्भट्ट (12वीं? शती) का नेमिनिर्वाण महाकाव्य, उदयप्रभसूरि (सं० 1299) तथा उपाध्याय कीर्तिराज (सं० 1495) के नेमिचरित्र तथा ब्रह्म नेमिदत्त (सं० 1575) का नेमिनाथ पुराण है। गुणविजयकृत चरित (सं० 1668) गद्यात्मक है। इनके अतिरिक्त भोजसागर, नरसिंह, हरिषेण, और मंगरस की भी कृतियाँ मिलती हैं। अपभ्रंश में चन्द्रसूरि के शिष्य हरिभद्र का णेमिणाहचरिउ (सं० 1216) का पाया जाता है। महाकवि दामोदर की रचना (सं० 1287) की है। लक्ष्मणदेव की कृति सं० 1510 के पूर्व की है।

तेईसवें तीर्थंकर पर देवभद्रगणि ने प्राकृत में पार्श्वनाथचरित सं० 1168 में रचा। नागदेव ने पार्श्वनाथ पुराण रचा था तथा एक अनाम कृति पार्श्वनाथ-दशभवचरित नाम से मिलती है। संस्कृत में प्राचीन रचना जिनसेनकृत पार्श्वाभ्युदय (10वीं शती) है। वादिराजसूरि का पार्श्वनाथपुराण (सं० 1082) भी उपलब्ध है। गुणभद्रसूरि के शिष्य सर्वानन्द सूरि की रचना करीब 12वीं शती की है। माणिक्य-चन्द्र का पार्श्वनाथचरित (सं० 1762) तथा गुणरत्न के शिष्य सर्वानन्द (सं० 1291) तथा भावदेवसूरि (सं० 1412) ने भी चरित लिखे थे। विनय चन्द्र की रचना 15 वीं शती, पद्मसुन्दर (सं० 1615) का पार्श्वनाथ काव्य, तथा हेमविजय ने सं० 1632 में चरितों की रचना की। उदयवीरगणि (सं० 1954) की गद्यात्मक रचना उपलब्ध होती है। सकलकीर्ति का पार्श्वनाथपुराण 15वीं शती का तथा वादिचन्द्रका 17वीं शति का है। चन्द्रकीर्ति ने अपना पुराण स० 1654 में रचा। अपभ्रंश में प्रथम रचना श्रीधर की सं० 1189 की मिलती है। असवाल का पार्श्वनाथपुराण है जो 15वीं शती के आसपास की रचना मानी जाती है। रइधू का भी पार्श्व पर एक पुराण उपलब्ध है।

चौबीसवें तीर्थंकर महावीर पर प्राकृत में प्रथम रचना गुणचन्द्रगणि (सं०-1139) की है। द्वितीय रचना देवेन्द्रगणि उर्फ नेमिचन्द्रसूरि (वि० सं० 1141) की है। अन्य चरितकारों में मानदेवसूरि के शिष्य देवप्रभसूरि, तथा जिनवल्लसूरि के नाम आते हैं। संस्कृत काव्यों में प्रथम रचना असग (11वीं शती) की सन्मतिचरित अथवा वर्धमान चरित्र है। सकलकीर्ति का वर्धमानपुराण (सं० 1518) तथा अन्य पुराणकारों में पद्मनन्दि, केशव, वाणीवल्लभ इत्यादि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। अपभ्रंश में रइधू का सम्मइणाह चरिउ, जयमित्र का वड्ढमाणकव्व मिलता है।

हरिवंश पुराण के नाम के अन्य पुराण एवं उनका सामान्य परिचय :

पुराण विषयक जैन ग्रन्थों की संख्या सैकड़ों में है, और वे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड़ तथा हिन्दी आदि सभी प्राचीन भारतीय भाषाओं में पाये जाते हैं। इन विविध रचनाओं में वर्णन भेद भी पाया जाता है जिसका परस्पर

तथा वैदिक पुराणों के साथ तुलनात्मक अध्ययन–अनुसन्धान एक रोचक और महत्त्व-पूर्ण विषय है।

इस विषय की संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश रचनायें बहुसंख्यक हैं। हरिवंश-पुराण के नाम से संस्कृत मे धर्मकीर्ति, श्रुतकीर्ति, सकलकीर्ति, जयसागर, जिनदास व मंगरसकृत, व पाण्डवपुराण नाम से श्रीभूषण, शुभचन्द्र, वादिचन्द्र, जयानन्द, विजयगरि, देवविजय, देवभद्र व शुभवर्धन कृत, तथा नेमिनाथ चरित्र के नाम से सूराचार्य उदयप्रभ, कीर्तिराज, गुणविजय, हेमचन्द्र, भोजसागर, तिलकाचार्य, विक्रम, नरसिंह, हरिषेण, नेमिदत्त आदि कृत रचनायें ज्ञात हैं। प्राकृत में रत्नप्रभ, गुण-वल्लभ, और गुणसागर द्वारा तथा अपभ्रंश के स्वयंभू, धवल, यशःकीर्ति श्रुतकीर्ति, हरिभद्र व रइधू द्वारा विरचित पुराण व काव्य ज्ञात हो चुके हैं।[1] इन स्वतन्त्र रचनाओं के अतिरिक्त जिनसेन, गुणभद्र व हेमचन्द्र तथा पुष्पदन्त कृत संस्कृत व अपभ्रंश महापुराणों में भी यह कथानक वर्णित है एवं उनकी स्वतन्त्र प्राचीन प्रतियाँ भी पायी जाती है। हरिवंश पुराण अरिष्टनेमि या नेमिचरित, पाण्डवपुराण व पाण्डवचरित आदि नामों से न जाने कितनी संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश रचनायें अभी भी अज्ञात रूप से ग्रन्थ भण्डारों में पड़ी होना सम्भव है।

उपलब्ध साहित्य में जिनसेन कृत (840 वि० सं०) संस्कृत हरिवंशपुराण का प्रथम नम्बर आता है। इसमें 66 सर्ग हैं। कुवलयमाला में जो उल्लेख है[2] उससे अनुमान किया जाता है कि यह रचना सम्भवतः विमलसूरि कि सम्भावित कृति पर आधारित है। सकलकीर्ति (1450–1510 वि० सं०) का हरिवंशपुराण 39 सर्गों में विभक्त है। इसमें आधे से अधिक सर्ग उनके शिष्य जिनदास द्वारा लिखे गये हैं। भ० श्रीभूषण का हरिवंशपुराण सं० 1675 की रचना है।

तेरहवीं शताब्दी में रचा गया देवप्रभसूरि का पाण्डवचरित 18 सर्गों में विभक्त है। शुभचन्द्र का (1608 वि० सं०) पाण्डवपुराण जैन महाभारत भी कहलाता है। राजविजयसूरि के शिष्य देवविजयगणि (1660 वि० सं०) ने देव-प्रभसूरि के पाण्डव चरित्र का गद्य में रूपान्तर कर अपनी कृति बनाई थी। अमरचन्द (13वीं शताब्दी) की रचना बालभारत भी उल्लेखनीय है।

हरिवंश पुराण के अन्य कर्ताओं में ब्र० जिनदास (16वीं शती), जयसागर, कवि रामचन्द्र (सं० 1560 से पूर्व) और भ० धर्मकीर्ति (सं० 1671) तथा पाण्डव

1. देखिये-वेलणकर जिनरत्नकोश तथा कोछड़ कृत अपभ्रंश साहित्य
2. बुहयण सहस्स दइयं हरिवंसुप्पत्तिकारयं पढम।
   वन्दामि वन्दियं पि हु हरिवंसं चेव विमलपयं ॥ 38 ॥

चरित्र सम्बन्धी जयानन्द, विजयगणि, शुभवर्धनगणि और पाण्डवपुराणों के रचयिताओं में भ० शुभचन्द्र (सं० 1618), श्रीभूषण सं० 1657 और भ० वादिचन्द्र (17वीं शताब्दी) के नाम उल्लेखनीय हैं।

हरिवंश सम्बन्धी अपभ्रंश की प्रथम कृति स्वयंभूदेव की है जिसका अपर नाम रिट्ठणेमिचरिउ है। यह तीन काण्डों में विभक्त है तथा 112 सन्धिवाला ग्रन्थ है। इसकी कथा का आधार जिनसेन का हरिवंश पुराण है। धवल (11वीं—12वीं शताब्दी वि० सं०) का हरिवंश पुराण 112 सन्धियों में काव्यात्मक ढंग से लिखा गया है। सोलहवी शताब्दी की यशःकीर्ति की अन्य दो कृतियाँ प्राप्त हैं। प्रथम 13 व द्वितीय 44 सन्धियों में विभक्त है। कवि रइधू ने भी हरिवंशपुराण की रचना की है।

———

चतुर्थ अध्याय

संस्कृति के मूल तत्त्व

संस्कृति का अर्थ

संस्कृति क्या है ? यह अत्यन्त गम्भीर प्रश्न रहा है । इस प्रश्न का उत्तर अनेक दृष्टियों से विचारकों ने दिया है । संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है । वह मानव जीवन की एक प्रेरक शक्ति है, जीवन की प्राण वायु है जो चैतन्यभाव की साक्षी प्रदान करती है । संस्कृति विश्व के प्रति अनन्य मैत्री की भावना है जो विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति अस्नेह की स्थिति उत्पन्न कर सम्प्रीति की भावना पैदा करती है । बाह्य स्थूल भेदों को मिटाकर वह एकत्व तक पहुँचाने का प्रयास करती है । इस प्रकार राष्ट्र का लोकहितकारी तत्त्व संस्कृति है ।

संस्कृति का अर्थ संस्कार सम्पन्न जीवन है । वह जीवन जीने की कला है, पद्धति है । वह आकाश में नहीं धरती पर रहती है, वह कल्पना मे नहीं जीवन का ठोस सत्य है, वह बुद्धि का कुतूहल नही किन्तु एक आदर्श है ।

संस्कृति शब्द का उद्गम संस्कार शब्द से हुआ है जिसका अर्थ है कि वह क्रिया जिसके द्वारा मन को माजा जाता है जीवन को परिष्कृत किया जाता है, मानवता को निखारा जाता है और विचारों को संस्कारित किया जाता है ।

संस्कृति के लिए अंग्रेजी मे कल्चर शब्द का प्रयोग हुआ है और सभ्यता के लिए सिविलाइजेशन शब्द का । कुछ विचारक सिविलाइजेशन के अर्थ में ही कल्चर शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु वस्तुतः कल्चर शब्द का अर्थ सिविलाइजेशन नही है अपितु विचारो का उत्कर्ष है । Twentieth Century Dictionary मे कल्चर शब्द के तीन अर्थ दिये हैं : 1–उत्पादन, 2–विचारों का उत्कर्ष और 3–संशोधन । इन तीनों के अतिरिक्त इसका सभ्यता अर्थ मे भी प्रयोग हुआ है । किन्तु वस्तुतः कल्चर शब्द का प्रयोग विचारो के माजने के अर्थ में ही हुआ है । पौर्वात्य और पाश्चात्य सभी विचारक इस बात मे एक मत है । धर्म, दर्शन, साहित्य और कला ये सभी संस्कृति के ही अंग है ।

संस्कृति मानवीय जीवन की झंझट नहीं, सजावट है । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में कहा जाय तो—"संस्कृति जीवन के लिए परमावश्यक है ।

राजनीति की साधना उसका केवल एक अंग है। संस्कृति राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों को अपने में पचाकर इन दोनों से विस्तृत मानव मन को जन्म देती है। राजनीति में स्थायी रक्त संचार केवल संस्कृति के प्रचार, ज्ञान और साधनों से सम्भव है। संस्कृति जीवन के वृक्ष का संवर्धन करने वाला रस है। राजनीति के क्षेत्र में तो इसके इने गिने पत्ते ही देखने में आते है अथवा यों कहें कि राजनीति केवल पथ की साधना है, संस्कृति उस पथ का साध्य है।"

संस्कृति और कृषि शब्द समानार्थक है। कृषि शब्द से संस्कृति शब्द अधिक व्यापक है और विशुद्ध का प्रतीक है। कृषि का उद्देश्य है भूमि की विकृति को दूर कर लहलहाती खेती को उत्पन्न करना। सर्व प्रथम कृषक भूमि को साफ करता है, एक सदृश्य बनाता है, पत्थर आदि को हटाता है, घास-फूस अलग कर भूमि को साफ करता है, खाद डालकर भूमि को उस योग्य बनाता है कि बीज उसमें अच्छी तरह से पनप सके। सस्कृति में भी यह ही किया जाता है। मानसिक, वाचिक और कायिक विकृतियाँ दूर की जाती हैं। विकारों को हटाकर विचारों का विकास किया जाता है। वह संस्कार व्यक्ति से प्रारम्भ होकर परिवार, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त हो जाता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र का संशोधन और संस्कार करना ही संस्कृति है। संस्कृति का प्रयोजन मानव जीवन है, मानव जीवन को ही सुसंस्कृत बनाया जा सकता है। एतदर्थ ही वैदिक ऋषि ने कहा है कि "न मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित्" मानव से बढ़कर विश्व में कोई श्रेष्ठ प्राणी नहीं है। यही कारण है कि आजतक किसी भी मानवेतर प्राणी की सस्कृति उत्पन्न नहीं हुई है और कभी उत्पन्न होगी यह भी सम्भव नहीं है। संस्कृति और संस्कार हम कुछ भी क्यों न कहें वह हमारे जीवन को उज्जवल बनाने की कला है।

संस्कृति किसी एक व्यक्ति के प्रयत्नों का परिणाम नहीं है, किन्तु अनेक व्यक्तियों के द्वारा बौद्धिक क्षेत्र में किये गये प्रयत्नों का परिणाम है। एक विद्वान् के अभिमतानुसार—मानव की शिल्प कलाएं, उसके अस्त्र-शस्त्र, उसका धर्म तथा तन्त्र-विद्या और उसकी आर्थिक उन्नति, उसका कला-कौशल ये सभी संस्कृति में आते है। संस्कृति मानव जीवन के उन सब तत्वों के समाहार का नाम है जो धर्म और दर्शन से प्रारम्भ होकर कला-कौशल, सम्मान और व्यवहार इत्यादि में अन्त होते हैं।

संस्कृति एक अविरोधी तत्व है जो विरोध को नष्ट कर प्रेम का सुनहरा वातावरण निर्माण करती है। नाना प्रकार की धर्म-साधना, कलात्मक प्रयत्न, योग मूलक अनुभूति और तर्क मूलक कल्पना शक्ति से मानव जिस सत्य को अधिगत करता है वह संस्कृति है। संस्कृति एक प्रकार से विजय यात्रा है, असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से जीवन की ओर बढ़ने का उपक्रम है।

संस्कृति की परिभाषाएं

श्री साने ने लिखा है-जो संस्कृति महान् होती है वह दूसरी संस्कृति को भय नहीं देती, बल्कि उसको साथ लेकर पवित्रता देती है। संस्कृति एक सुन्दर सरिता के समान है जो सदा प्रवाहित होती रहती है। सरिता के प्रवाह को बांध देने पर सरिता सरिता नहीं रहती वह तो बांध बन जाता है, इसी तरह संस्कृति जो जन-जन में घुल-मिल चुकी है उसे राष्ट्र की सीमा में सीमित करना उचित नहीं है।

शिवदत्त ज्ञानी के अनुसार—"संस्कृति शब्द भाषा की सम+कृ धातु में 'क्तिन्' लगाने से बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ "अच्छी स्थिति" 'सुधरी स्थिति' का बोधक है।"[1] किन्तु संस्कृति के इस व्याकरणिक अर्थ की अपेक्षा भावार्थ अधिक विकसित एवं व्यापक है। संस्कृति से मानव समाज की उस परिमार्जित स्थिति का बोध होता है. जिससे उसे ऊँचा सभ्य (Cultured) विशेषणों से विभूषित किया जा सके।

संस्कृति का उद्देश्य निसर्ग-प्रदत्त मानसिक, आत्मिक एवं शारीरिक शक्तियों का विकास है। जिस संस्कृति मे इस विकास का जितना आधिक्य है, वह उतनी ही उच्च मानी जायेगी। इस रूप में यह विकास-शीलता संस्कृति की कसौटी सिद्ध होती है।

बाबू गुलाबराय संस्कृति' शब्द को संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना आदि के अर्थ में लेते है। वे संस्कृति के अंग्रेजी पर्याय (Culture) 'कल्चर' शब्द में वही धातु मानते है जो (Agriculture) 'एग्रीकल्चर' में है। इसका अर्थ भी पैदा करना, सुधारना है। उनके अनुसार 'संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है ......। संस्कार व्यक्ति के होते हैं और जाति के भी। जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं।[2]

डा० उमाकान्त संस्कृति को मन और मस्तिष्क का संस्कार परिष्कार करने वाली, मानव जाति का श्रेय सम्पादन करने वाली मानते हैं। वे इसका व्युत्पत्यर्थ (सम् + कृ + क्तिन्) से लेते हैं।[3]

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का विश्वास है कि धातुगत अर्थ इसके व्यावहारिक अर्थ स्पष्ट करने में सहायक न होगा फिर भी धातुगत अर्थ व्यावहारिक अर्थ की ओर इंगित अवश्य करता है। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' (Culture) की व्युत्पत्ति

1. शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 17
2. बाबू गुलाबराय : भारतीय संस्कृति की रूप रेखा, पृष्ठ 1
3. डा. उमाकान्त : मैथिलीशरण गुप्त कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, पृष्ठ 366

'Cultivation' के समान है दोनों में एक ही मूल लैटिन शब्द 'कल्चुरा' (Cultura) सन्निहित है। कोश में इसके कृषि कर्म अर्थ के साथ-साथ 'संवर्धन' और 'उन्नति' अर्थ भी दिये हैं। फलस्वरूप यह सांकेतिक अर्थ संस्कृति के ही निकट है।[4]

डा० राधाकृष्णन् के मतानुसार 'विवेक बुद्धि के द्वारा जीवन को भली प्रकार जान लेने का नाम संस्कृति है।'[5]

स्वामी करपात्री जी के शब्दों में लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएं व हलचलें ही संस्कृति हैं।[6]

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के मतानुसार "चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है उन्हीं को संस्कृति की कोटि में मानते हैं।"[7]

डा० रामधारीसिंह दिनकर ने "जिन्दगी के तरीकों को ही संस्कृति की संज्ञा दी है।"[8]

टायलर (Tyler) संस्कृति को एक ऐसी जटिल समस्या मानते हैं जिसके अन्तर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा तथा अन्य क्षमताएं सम्मिलित हैं, जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।[9]

मैथ्यु आर्नल्ड के मतानुसार "संसार में सर्वोत्तम बातों से परिचित होने को संस्कृति कहते है।"[10]

डा० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार "सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति कहते हैं।"[11]

---

4. डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क (निबन्ध-संग्रह),
5. स्वतन्त्रता और संस्कृति, अनु. विश्वम्भर त्रिपाठी, संस्करण 1954, पृष्ठ 53
6. कल्याण (हिन्दू संस्कृति अंक), पृष्ठ 35
7. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 191
8. संस्कृति के चार अध्याय, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 653
9. Premitive Culture—E. B. Tyler, page 1, Edition 1889 — "Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and other capabilities acquired by man as a member of Society."
10. Culture and Anarchy (preface)—Methew Arnold,
11. समाज और संस्कृति, अमर मुनि, पृष्ठ 36

मैकाइवर और पेज के अनुसार "संस्कृति हमारे दैनिक व्यवहार में, कला में, साहित्य में, धर्म में, मनोरंजन और आनन्द में पाये जाने वाले रहन-सहन और विचार के तरीकों में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।[12]

जैन संस्कृति

भारत की अनेकविध संस्कृतियों में जैन संस्कृति (श्रमण संस्कृति) एक प्रधान एवं गौरवपूर्ण संस्कृति है। समता प्रधान होने के कारण यह संस्कृति श्रमण संस्कृति कहलाती है।

'श्रमण' शब्द की रचना 'श्रम' धातु (श्रमु तपसि खेदे च) में ल्युट् प्रत्यय जोड़कर हुई है। आचार्य हरिभद्रसूरि का कथन है-"श्राम्यतीति श्रमणः तपस्यतीत्यर्थः" अर्थात् जो तप करता है वह श्रमण है। इस प्रकार श्रमण का अर्थ-तपस्वी या परिव्राजक है।

श्रमण शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध श्रमण शब्द के विविध रूप (समण, श्रमण, सवणु, श्रवण, श्रमण, समनाई, श्रमणे आदि) श्रमण शब्द की विश्वव्यापकता सिद्ध करते है।

दशवैकालिककार ने श्रमण शब्द का मूल समण माना है। समण शब्द 'सम' शब्द से निष्पन्न है। जो सभी जीवों को अपने तुल्य मानता है, वह समण है। जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है उसी प्रकार सभी जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है, इस समता की भावना से जो स्वयं किसी प्राणी का वध नहीं करता और न दूसरों से करवाता है, वह अपनी समगति के कारण समण कहलाता है।[13]

जिसके मन में समता की सुर-सरिता प्रवाहित होती है वह न किसी पर द्वेष करता है और न किसी पर राग ही करता है अपितु अपनी मनः स्थिति को सदा सम रखता है इस कारण वह समण कहलाता है।[14]

समण वह है जो पुरस्कार के पुष्पों को पाकर प्रसन्न नहीं होता और अपमान के हलाहल को देखकर खिन्न नहीं होता-अपितु सदा सम रहता है।[15]

12. Society–Maciver and Page, page 499.
—"Culture is the expression in the nature in our modes of living and of thinking in our every day inter course in art, in literature, in religion, in recreation and enjoyment.
13. दशवैकालिक—नियुक्ति, गाथा 154
14. वही, गाथा 155
15. वही, गाथा 156

सिर मुण्डा लेने से कोई समण नहीं होता किन्तु समता का आचरण करने से ही समण होता है।[16]

सूत्रकृतांग में समण के समभाव की अनेक दृष्टियों से व्याख्या करते हुए लिखा है—मुनि को गोत्र-कुल आदि का मद न कर, दूसरों के प्रति घृणा न रखते हुए सदा समभाव में रहना चाहिये।[17] जो दूसरों का अपमान करता है वह दीर्घ-काल तक संसार में भ्रमण करता है, अतएव मुनि मद न कर सम रहे।[18] चक्रवर्ती दीक्षित होने पर अपने से पूर्व दीक्षित अनुचर को भी नमस्कार करने में संकोच न करे किन्तु समता का आचरण करे।[19] प्रज्ञासम्पन्न मुनि क्रोध आदि कषायों पर विजय प्राप्त कर समता धर्म का निरुपण करें।[20]

जैन संस्कृति मानव के चरम् उत्थान में विश्वास करती है और वह प्रमाणों के माध्यम से प्रमाणित करती है कि आत्मा अपने प्रयासों एवं साधना से परमात्मा बन सकती है। भगवान जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित जैन संस्कृति बताती है कि प्राणीमात्र की रक्षा में ही मानव का हित है। आत्मा की शुद्धि ही कल्याण का साधन है तथा बाह्य शुद्धि से आत्म शुद्धि सम्भव नहीं है। अहिंसा ही इस संस्कृति की जीवन शक्ति है। आत्मपरिष्कार, आत्मप्रबोधन, आत्मविश्वास, आत्मचिन्तन, पर-चिन्तन परित्याग आदि की भावना जैन संस्कृति में सदैव प्रवाहित रही है।

महात्मा भगवानदीन ने "जैन संस्कृति का व्यापक रूप" शीर्षक निबन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं वे जैन संस्कृति के मूल तत्वों की ओर संकेत करते हैं। वे लिखते हैं—"संस्कृति लफ्ज़ को तोड़-फोड़ कर देखने से मुझे तो उसके अन्दर सिवाय इन चीजों के और कुछ न मिला–1–औरों को न सतांना, 2–सच बोलना, 3–चोरी न करना, 4–जरूरत से ज्यादा सामान न रखना और 5–मर्दों को दूसरी औरतों की ओर, औरतों को दूसरे मर्दों की तरफ बुरी नजर से न देखना। ये ही पांच सचाइयाँ मिलकर संस्कृति नाम पाती हैं। जैन संस्कृति के सन्दर्भ में जैन ऋषियों के कार्य का उल्लेख करते हुए भगवानदीनजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उन्होंने जो कुछ बताया है उसमें कुछ नया न होने पर भी नयापन मिलेगा ही ......उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि अमुक देवता को मानलो तुम तर जाओगे। हां, समझाते-समझाते अपनी सिद्ध आत्माओं से यह जरूर कहलवाया कि 'देखो! जब तक तुम हमें

16. उत्तराध्ययन, 25।29–30
17. सूत्रकृतांग, 1।2।2।1
18. वही, 1।2।2।2
19. वही, 1।2।2।3
20. वही, 1।2।2।6

पूजते रहोगे या पूजने के ख्याल में रहोगे तब तक हम जैसे नहीं हो सकोगे। हमें पूजना छोड़ अपने को पूजकर ही हम जैसे बन सकोगे.......... । जैन ऋषि शुद्धि करने में विश्वास नहीं करते, शुद्ध होने में विश्वास करते हैं........ जैनों के यहां पैदा होकर जाति से भले ही जैन कहलाने लगे, जैन लफ्ज के माने में जैन नहीं हो सकता। जैन बनने की एक ही शर्त है—यह मान लो, जान लो कि हम हैं और आजाद हो सकते हैं, जैसे ही आपने यह माना जाना आप जैन हो गये और जैनों से इज्जत पाने के हकदार भी। जैन के लफ्जी माने है—'जीतने वाला' या यों समझिये—जीतने के लिए तैयार या जीतने के लिए चलने वाला यानि आजादी का सिपाही। जैन धर्म का अर्थ है सिपाहियाना धर्म। आखिर मोह की फौज के सामने आ डटने के लिए सिपाही की जरूरत नहीं तो किसकी हो सकती है ?[21]

मोक्ष

आत्म शुद्धि को प्रधानता देने वाली जैन संस्कृति का कहना है कि गंगा, यमुना आदि सरिताओं में स्नान करने से मुक्ति नहीं मिल सकती अथवा आत्म-दाह, बलिदान, जीवन दान आदि मुक्ति के साधन नहीं है। जब तक आत्मा की परि-शुद्धि न होगी तब तक मोक्ष प्राप्त करना असम्भव है।

कर्मवाद

प्रत्येक आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र एवं सक्षम है और उनके फल भोगने में भी वही समर्थ है। जैन संस्कृति यह नहीं मानती है कि कोई विशेष शक्ति जीव को कर्म करने की प्रेरणा देती है और उसके ही संकेतों पर वह कर्म रत होता है।

जैन सस्कृति की मान्यता के अनुसार आत्मा स्वयं कर्म करती है और स्वयं उसका फल भोगती है तथा स्वयं ससार में भ्रमण करती है और भव भ्रमण से मुक्ति प्राप्त करती है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद् विमुच्यते ॥

पूज्य आचार्य श्री अमितगति जी ने कर्म सिद्धान्त का इस रूप में निरूपण किया है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना-पुरा। फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्। परेण दत्तम् यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा। निजार्जित कर्म विहाय देहिनो न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन। विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो ददाति इति विमुच्य शेमुषीम्।

21. श्री जमनालाल जैन : धर्म और संस्कृति, पृष्ठ 40

अर्थात् आत्मा जैसे कर्म करती है उसके अनुसार उसे शुभाशुभ फल प्राप्त होते हैं। यदि उसे अन्य कृत कर्मों के फल की प्राप्ति मानी जाय तो स्वयं कृत कर्म निरर्थक हो जाते हैं। वास्तव में स्वयं कृत कर्मों के अतिरिक्त कोई किसी को फल प्रदान करने में समर्थ नहीं है।[22]

ईश्वर सम्बन्धी विशिष्ट धारणाएं

जैन धर्म के ये ईश्वर संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। सृष्टि के संचालन में न उनका हाथ है और न वे किसी का भला-बुरा करते हैं। न वे किसी के स्तुति-वाद से कभी प्रसन्न होते हैं और न किसी के निन्दावाद से अप्रसन्न। न उनके पास कोई ऐसी सांसारिक वस्तु है जिसे हम ऐश्वर्य या वैभव के नाम से पुकार सकें, और न वे किसी को उसके अपराधों का दण्ड देते हैं। जैन सिद्धान्तानुसार सृष्टि स्वयं सिद्ध है। जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार स्वयं ही सुख-दुःख पाते हैं। ऐसी अवस्था में मुक्तात्माओं और अर्हन्तों को इन सब झंझटों में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि वे कृतकृत्य हो चुके हैं, उन्हें अब कुछ करना बाकी नहीं रहा है।

सारांश यह है कि जैनधर्म में ईश्वर रूप में माने गये अर्हन्तों और मुक्तात्माओं का उस ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसे अन्य लोग संसार के कर्ता, हर्ता ईश्वर में कल्पना किया करते हैं। इसलिए जैनधर्म को अनीश्वरवादी भी कहा जाता है।[23]

अहिंसावाद

हिंसा-अहिंसा की परिभाषा कषायपाहुड़ में निम्न प्रकार से प्राप्त होती है—

रागदीणमणुप्पा अहिंसगत्तं त्ति देसिदं समये।
तेसिं च उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठा ॥

आत्मा में रागादिभावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है और रागादि भावों की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में वर्णित है कि रागादि में क्रोध, मान, माया, लोभ हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा और तीनों वेद ये सभी कषायें सम्मिलित हैं। ये सब हिंसा रूप ही हैं[25]

जैन संस्कृति के अनुसार अहिंसक न किसी का बुरा विचारता है और न किसी को रागादि की भावना से सन्तप्त करता है। प्राणीमात्र में मैत्री की भावना

22 शिखरचन्द कोचर द्वारा लिखित जैन कर्म सिद्धान्त का मूलमन्त्रस्वावलम्बन द्रष्टव्य है (मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ 73)
23. प कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, पृष्ठ 124
24. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग-1, पृष्ठ 225
25. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक 44

समुत्पन्न करने वाली ही अहिंसा है, जीओ और जीने दो यही अहिंसा का चिरन्तन सन्देश है।

अपरिग्रहवाद—

जैन संस्कृति ने सार्वभौमिक शान्ति एवं मैत्री के लिए अपरिग्रहवाद को भी विशेष महत्व दिया है। अनावश्यक संग्रह ही विषमता, द्वेष, विध्वंस आदि को जन्म देता है। यदि मानव अनावश्यक संग्रह का परित्याग कर दे तो इस विक्षुब्ध संसार में शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो सकती है। अनावश्यक संग्रह ही पाप का प्रमुख कारण है।

अनेकान्तवाद-

अपरिग्रहवाद को अपनाती हुई जैन संस्कृति अनेकान्तवाद की ओर भी विशेष आकर्षित है। यह वाद (अनेकान्तवाद) संकुचित दृष्टिकोण को उदार बनाता है तथा पदार्थ विज्ञान के अध्ययन में एक व्यापक माध्यम को प्रस्तुत करता है। पदार्थ मे अनेक गुण होते हैं।[26] अतः किसी वस्तु के कथन मे 'ही' का प्रयोग न करके 'भी' का प्रयोग ही हितकर सिद्ध हुआ है, दूसरे शब्दों में वस्तु स्वरूप के निरूपण में 'स्यात्' अथवा 'कथंचित्' या किसी अपेक्षा से शब्द का उपयोग करना ही एक व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। यही अनेकान्तवाद विरोधात्मक भावना को दूर करता है एवं स्वस्थ चिन्तन को जागरूकता प्रदान करता है। उदाहरण के रूप में हम कह सकते है कि एक ही पुरुष अपने पुत्र का पिता है और वही पुरुष अपने पिता का पुत्र है। इस प्रकार के पितृत्व और पुत्रत्व आदि अनेक धर्म एक ही समय में एक ही पुरुष में विद्यमान रह सकते हैं। निश्चयतः अनेकान्तवाद संशयवाद न होकर समन्वयवाद है। अनेकांतवाद सत्य तक पहुँचने का सुगम मार्ग है। अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) से ही पूर्ण सच्चाई समझ में आ सकती है। फलतः जैन संस्कृति ने इसे अत्यधिक प्रश्रय दिया है। अहिंसावाद के समान ही अनेकान्तवाद जैन संस्कृति का अभिन्न अंग है।

वैदिक संस्कृति एवं जैन संस्कृति (श्रमण संस्कृति) का तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय संस्कृति एवं इतिहास की संकल्पना एवं संरचना में श्रमण संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अनेक ऐतिहासिक शोध कार्यों एवं पुरातात्विक उत्खननों से यह सिद्ध हो चुका है कि अति प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में वैदिक एवं श्रमण ये दो संस्कृतियाँ अजस्र रूप से प्रवाहित होती रही हैं।

26. अनन्तधर्मात्मकं सत्

प्राचीनता—

विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में श्रमण शब्द तथा वातरशनाः मुनयः (वायु जिनकी मेखला है, ऐसे नग्न मुनि) का उल्लेख हुआ है।[27] बृहदारण्यक उपनिषद् में श्रमण के साथ-साथ 'तापस' शब्द का पृथक प्रयोग हुआ है।[28] इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही तापस, ब्राह्मण एवं श्रमण भिन्न भिन्न माने जाते थे। तैत्तिरीय आरण्यक में तो ऋग्वेद के 'मुनयो वातरशनाः' को श्रमण ही बताया गया है।[29] अथर्ववेद में व्रात्य शब्द आया है, अभिधानचिन्तामणि कोष में आचार्य हेमचन्द्र ने आचार और संस्कार से हीन मानवों के लिए इसको व्यवहृत किया है।[30]

मनुस्मृतिकार ने लिखा है—क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण योग्य अवस्था प्राप्त करने पर भी असंस्कृत हैं क्योंकि वे व्रात्य है और वे आर्यों के द्वारा गर्हणीय है।[31] उन्होंने आगे बताया है जो ब्राह्मण, सन्तति उपनयन आदि व्रतों से रहित हो उस गुरु मन्त्र से परिभ्रष्ट व्यक्ति को व्रात्य नाम से निर्दिष्ट किया गया है।[32] ताण्ड्य महाब्राह्मण में एक व्रात्य स्तोत है। जिसका पाठ करने से अशुद्ध व्रात्य भी शुद्ध और सुसंस्कृत होकर यज्ञ आदि करने का अधिकारी हो जाता है।[33] इस पर भाष्य करते हुए सायण ने भी व्रात्य का अर्थ आचार हीन किया है।[34]

उपर्युक्त सभी उल्लेखों में व्रात्य का अर्थ आचारहीन किया गया है जबकि इनसे पूर्ववर्ती जो ग्रन्थ हैं उनमें यह अर्थ नहीं है, अपितु विद्वत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील आदि महत्त्वपूर्ण विशेषण व्रात्य के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[35] व्रात्यकाण्ड की

---

27. मुनयो: वातरशना पिशंगा वसते मला:। —ऋग्वेद, 10।135।2
28. श्रमणो श्रमणस्तापसो तापस '' भवति। —बृहदारण्यकोपनिषद, 4।3।22
29. वातरशना: ह व ऋषय: श्रमणा: उर्ध्वमन्थिनों बभुव.। —तैत्तिरीयारण्यक, 2।7
30. व्रात्य: संस्कारवर्जित:। व्रतेसाधु: कालो व्रात्य:।
    तत्र भवो व्रात्य: प्रायश्चित्तार्ह:, संस्कारो व्र उपनयन तेन वर्जित:॥
    —अभिधान चिन्तामणि कोष, 3।418
31. अत: उर्ध्वंत्रयोऽप्येते, यथाकालमसंस्कृता:।
    सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य विगर्हिता:॥ —मनुस्मृति, 1।5।8
32. द्विजातय: सवर्णासु. जनयन्त्य व्रतांस्तु तान।
    तान् सावित्री-परिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशत्॥ —मनुस्मृति, 10।20
33. हीना वा एते। हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति।
    षोडशो वा एतत् स्तोम: समाप्तुमर्हति। —ताण्ड्य महाब्राम्हाण
34. व्रात्यान् व्रात्यतां आचार हीनतां प्राप्य प्रवसन्त: प्रवासं कुर्वंत:।
    —ताण्ड्य ब्राह्मण सायण भाष्य
35. कश्चिद् विद्वत्तमं महाधिकारं, पुण्यशीलं, विश्वसमान्यं।
    ब्राह्मणविशिष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मंतव्यम्॥ —अथर्ववेद, 15।1।1।1

भूमिका में सायण ने इसमें व्रात्य की स्तुति की गई बताई है। उपनयन आदि से हीन मानव व्रात्य कहलाता है। ऐसे मानव को वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी और सामान्यतः पतित माना जाता है। परन्तु कोई व्रात्य ऐसा हो जो विद्वान् और तपस्वी हो, ब्राह्मण उसे भले ही द्वेष करें परन्तु वह पूजनीय होगा।[36] यह सुव्यक्त है कि अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड का सम्बन्ध किसी ब्राह्मणेतर परम्परा से है। व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को भी प्रेरणा दी थी।[37] उस प्रजापति ने अपने में सुवर्ण आत्मा को देखा।[38]

डॉ० सम्पूर्णानन्द व्रात्य का अर्थ परमात्मा करते हैं।[39] बलदेव उपाध्याय भी उसी अर्थ को स्वीकार करते हैं।[40] किन्तु व्रात्य काण्ड में जो वर्णन है वह परमात्मा का नहीं अपितु किसी देहधारी का है। देवेन्द्र शास्त्री की मान्यता है कि उस व्यक्ति का नाम ऋषभदेव है, क्योंकि ऋषभदेव एक वर्ष तक तपस्या में स्थिर रहे थे। एक वर्ष तक निराहार रहने पर भी उनके शरीर की पुष्टि और दीप्ति कम नहीं हुई थी।

व्रात्य शब्द का मूल व्रत है। व्रत का अर्थ है धार्मिक संकल्प और जो संकल्पों में कुशल है, वह व्रात्य है।[41] डॉ० हेवर प्रयुक्त शब्द का विश्लेषण करते हुए लिखते है—व्रात्य का अर्थ व्रतों में दीक्षित है अर्थात् जिसने आत्मानुशासन की दृष्टि से स्वेच्छापूर्वक व्रत स्वीकार किये हों वह व्रात्य है।[42] यह निर्विवाद सत्य है कि व्रतों की परम्परा श्रमण संस्कृति की मौलिक देन है। डॉ० हर्मन जेकोबी की यह कल्पना कि जैनों ने अपने व्रत ब्राह्मणों से लिए हैं,[43] निराधार कल्पना ही है। वास्तविक सत्य उसमें नहीं है। अहिंसा आदि व्रतों की परम्परा ब्राह्मण संस्कृति की नहीं, जैन संस्कृति की देन है। वेद, ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में कहीं पर भी व्रतों का उल्लेख नहीं आया है। उपनिषदों, पुराणों और स्मृतियों में जो उल्लेख हुआ है वह सब पार्श्वनाथ के बाद का है। पार्श्वनाथ की व्रत परम्परा का उपनिषदों पर

36. वही, 15।1।1।1 — सायणभाष्य
37. व्रात्यासीदीयमान एव सं प्रजापतिं समैरयत्। —अथर्ववेद, 15।1।1।1
38. सः प्रजापतिं सुवर्णमात्मन्नपश्यन्। —वही, 15।1।1।3
39. अथर्ववेदीयं व्रात्य काण्ड।
40. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ 229
41. व्रियते यद् तद्व्रतम्, व्रते साधु कुशले वा इति व्रात्यः।
42. Vratya as initiated in vratas. Hence vratyas means a person who has volmitanly accepted the moral code of vows for his own spiritual discipline. By Dr. Hebar.
43. The sacred books of the East Vol. XXII, Inter Page 24.

प्रभाव पड़ा और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। रामधारी सिंह दिनकर ने इस तथ्य को मानते हुए अपने शब्दों में इस प्रकार बताया है—"हिन्दुत्व और जैनधर्म आपस में घुल मिलकर इतने एकाकार हो गये कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये जैन धर्म के उपदेश थे हिन्दुत्व के नहीं।"[44]

"व्रात्य आसीदीयमान एवं स प्रजापति समैरयत्" इस मन्त्र में 'आसीदीयमान' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ है-पर्यटन करता हुआ। यह शब्द श्रमण संस्कृति के सन्त का निर्देश करता है। श्रमण संस्कृति का सन्त आदिकाल से ही घुमक्कड़ रहा है। घूमना उसके जीवन की प्रधानचर्या रही है। वह पूर्व,[45] पश्चिम,[46] उत्तर[47] और दक्षिण आदि सब दिशाओं में अप्रतिबद्ध रूप से परिभ्रमण करता है, जैनागम साहित्य में उसे कई जगह अप्रतिबन्धविहारी भी कहा है। वर्षावास के समय को छोड़कर शेष आठ माह तक वह एक ग्राम से दूसरे ग्राम, एक नगर से दूसरे नगर भ्रमण करता रहता है।[48] भ्रमण करना उसके लिए प्रशस्त माना गया है।[49]

व्रात्यलोग व्रतों को मानते थे, अर्हन्तों (सन्तो) की उपासना करते थे। और प्राकृत भाषा बोलते थे। उनके सन्त ब्राह्मण सूत्रों के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे।[50] व्रात्यकाण्ड में पूर्ण-ब्रह्मचारी को व्रात्य कहा गया है।[51]

विवेचन का सार यह है कि प्राचीन काल में व्रात्य शब्द का प्रयोग जैन संस्कृति के अनुयायी श्रमणों के लिए होता रहा है।

अर्हन्--

जैन और बौद्ध साहित्य में सहस्त्रों बार अर्हन् शब्द का प्रयोग हुआ है। जो वीतराग और तीर्थंकर भगवान होते है, वे अर्हन् की सज्ञा से पुकारे गये हैं। अर्हन् शब्द श्रमण संस्कृति का अत्यधिक प्रिय शब्द रहा है। अर्हन् के उपासक होने से जैन लोग आर्हत कहलाते है। आर्हत लोग प्रारम्भ से ही कर्म में विश्वास रखते थे यही

44. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 125
45. स: उदतिष्ठत् स. प्राचीदिशमनुव्यचलत्। —अथर्ववेद, 15।1।2।1
46. स: उदतिष्ठत् स: प्रतीचीदिशमनुव्यचलत्। —अथर्ववेद, 15।1।2।15
47. स: उदतिष्ठत् स: उदीची दिशमनुव्यचलत्। —अथर्ववेद 15।1।2।16
48. दशवैकालिक चूलिका, 2 गाथा 11
49. विहार चरिया इसिण पसत्था। —दशवैकालिक चूलिका-2, गाथा5
50. वैदिक इन्डेक्स, दूसरी जिल्द 1958, दृष्टव्य 343, मैकडानल और कीथ
51. सूर्यकान्त : वैदिक कोष, वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय 1963

कारण था कि वे ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानते थे। आर्हत मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति की भांति वे धार्मिक प्रवृत्तियों में विशेष रुचि रखते थे और वे समयर पर वाद-विवादों में भी भाग लेते थे। इस अर्हत परम्परा की पुष्टि श्रीमद्भागवत,[52] पद्मपुराण,[53] विष्णुपुराण,[54] स्कन्दपुराण,[55] शिवपुराण[56] मत्स्यपुराण,[57] और देवीभागवत[58] आदि से भी होती है। इनमें जैन धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं। श्रमणनेता के लिए अर्हत् शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी हुआ है।[59]

विष्णु पुराण के अनुसार असुर लोग आर्हत धर्म के मानने वाले थे। उनको मायामोह नामक किसी व्यक्ति विशेष ने आर्हत् धर्म में दीक्षित किया था।[60] वे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में आस्था नहीं रखते थे।[61] वे यज्ञ और पशुबलि में भी विश्वास नहीं रखते थे।[62] अहिंसा धर्म में उनका पूर्ण विश्वास था।[63] वे श्राद्ध और कर्मकाण्ड का विरोध करते थे।[64] मायामोह ने अनेकान्तवाद का भी निरुपण किया था।[65]

पुरातत्व की दृष्टि से भी श्रमण संस्कृति की प्राचीनता शनैः शनैः सिद्ध होती जा रही है। भारतीय पुरातत्व का इतिहास मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से प्रारम्भ होता है। यद्यपि इन स्थानों से प्राप्त मुद्राओं की लिपि-सिन्धु-लिपि का प्रामाणिक वाचन नहीं हो सका है और इसी कारण सिन्धु सभ्यता के निर्माताओं की जाति

---

52. श्रीमद्भागवत, 5।3।20
53. पद्मपुराण, 13।350
54. विष्णुपुराण, 17–18 वां अध्याय
55. स्कन्दपुराण, 36, 37 व 38 वां अध्याय
56. शिवपुराण, 5।4–5
57. मत्स्यपुराण, 24।43–49
58. देवीभागवत, 4।13।54–57
59. अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥—ऋग्वेद, 2।4।33।10
60. अर्हतैतं महाधर्मं मायामोहेन ते यतः।
प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन ते भवन् ॥—विष्णुपुराण, 3।18।12
61. विष्णुपुराण, 3।18।13–14
62. वही, 3।18।27
63. वही, 3।18।25
64. वही, 3।18।28–29
65. वही, 3।18।8–11

अथवा नृवंश के सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से कहना सम्भव नहीं, तथापि सिन्धुघाटी के अवशेषों में उपलब्ध कतिपय प्रतिकों को श्रमण संस्कृति से सम्बद्ध किया जा सकता है। सरजान मार्शल के अनुसार—मोहनजोदड़ो से प्राप्त कुछ मूर्तियों में से एक योगासन स्थित त्रिमुख योगी की प्रतिमा विशेषतः उल्लेखनीय है। इस मूर्ति के सम्मुख हाथी, व्याघ्र, महिष, मृग आदि पशु स्थित हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह पशुपति शिव की मूर्ति है।[66] अन्य विद्वानों के अनुसार यह मूर्ति किसी पहुँचे हुए योगी की मूर्ति है।[67] इस त्रिमुख मूर्ति के अवलोकन से अर्हत् अतिशयों से अभिज्ञ कोई भी विद्वान् यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि यह समवशरण-स्थित चतुर्मुख तीर्थंकर का ही कोई शिल्प चित्रण है जिसका एक मुख उसकी बनावट के कारण अदृश्य हो गया है।[68] अस्तु आर्यों के आगमन से पूर्व यहाँ एक समुन्नत संस्कृति एवं सभ्यता विद्यमान थी जो अहिंसा सत्य एवं त्याग पर आधारित थी।

इस विषय में अधिकारी विद्वान् श्री चन्दा का मत विचारणीय है—

सिन्धु-घाटी की मुद्राओं में अंकित न केवल बैठी हुई देव मूर्तियाँ योग मुद्रा में है और वे उस सुन्दर अतीत में योग-मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती है अपितु खड्गासनस्थ देव मूर्तियाँ भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित है। यह कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित है। यह कायोत्सर्ग मुद्रा विशेषतः जैन है। आदि-पुराण 15/3 में ऋषभदेव के तप के सम्बन्ध में कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख है जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कायोत्सर्ग-मुद्रा में स्थित एक खड्गासनस्थ मूर्ति (द्वितीय शताब्दी ईस्वी) मथुरा संग्राहालय में हैं। इस मूर्ति की शैली उससे बिल्कुल मिलती है।[68]

वृषभ का अर्थ है—बैल। ऋषभदेव का चिन्ह बैल है। मुद्रा संख्या 3 से 5 तक में अंकित देव मूर्तियों के साथ बैल भी अंकित हैं जो ऋषभ का पूर्व रूप हो सकता है।[69]

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने भी 'हिन्दू सभ्यता' नामक ग्रन्थ में श्रीचन्दा के उपर्युक्त मत की पुष्टि की है और ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता को जैन धर्म का मूल प्रतिपादित किया है। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री टी० ऐन रामचन्द्रन् ने हड़प्पा से प्राप्त दो मूर्तियों में से प्रथम मूर्ति को नटराज शिव का प्राचीन प्रतिरूप तथा द्वितीय को तीर्थंकर मूर्ति माना है। वेदों में वर्णित शिश्नदेवाः का अर्थ लिंग पूजक के अतिरिक्त शिश्नयुक्त अर्थात् नग्न देवताओं के पूजक भी हो सकता है। उपर्युक्त दोनों मूर्तियों

---

66. Mohan Jodro and Indus Civilization (1931) Vol. I, Page 52-53 Sir Jonn Marshal.
67. Ahinsa in Indian Culture, —Dr. Nathmal Tantia
68. मुनि श्री नगराज जी; (वीर श्रमण अंक) वीर निर्वाण 2490, पृष्ठ 46
69. मार्डन रिव्यू, जून 1932, श्री चन्दा का लेख।

के नग्न होने के कारण इनकी संगति 'शिश्नदेवा:' से स्थापित की जा सकती है तथा सिन्धु-सभ्यता में श्रमण संस्कृति के बीज ढूंढे जा सकते हैं। उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रागार्य एवं प्राग्वैदिक काल से श्रमण-संस्कृति की पुनीत स्रोतस्विनी निरन्तर प्रवाहित होती रही है।

सैद्धान्तिक कसौटी

जैन संस्कृति की कतिपय ऐसी मान्यताएं और विशेषताएं हैं जिनके कारण इसमें और वैदिक संस्कृति में मौलिक अन्तर स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

जैन संस्कृति की विशेषताएं

साधारणतया जैन संस्कृति की कतिपय विशेषताऐं निम्नस्थ हैं—1. अहिंसा-वाद, 2. अनेकान्तवाद, 3. विश्वमैत्री, 4. अपरिग्रहवाद, 5. कर्मवाद, 6. जीव-स्वातन्त्र्य, 7. समन्वयवाद, 8. ईश्वर सम्बन्धी विशिष्ट धारणाएं, 9. अवतारवाद की अनुपयोगिता, 10 स्वयं निर्मित सृष्टि की परिकल्पना, 11. पुनर्जन्म में विश्वास, 12. आत्मा के अमरत्व की स्वीकृति, 13. आचार-विचार की पावनता के प्रति सजगता, 14. बाह्य शुद्धि की तुलना में आन्तरिक विशुद्धि को अधिक प्राधान्य, 15. निवृत्ति की प्रधानता, 16. आदर्शवाद की प्रतिस्थापना, 17. मानव की अतुलित शक्ति में विश्वास, 18 साधना के क्षेत्र में जाति वर्ण आदि की निस्सा-रता, 19. सर्वोदय में पूर्ण विश्वास, 20. सामन्तवादी परम्परा का विरोध एवं प्रजातन्त्र में आस्था, 21. राष्ट्रीयता, 22. बहुदेववाद के प्रति अनिष्ठा, 23. मात्र बाह्य क्रिया काण्ड के प्रति अनास्था, 24. व्यापक पदार्थ मीमांसा, 25. धर्मान्धता एव रूढ़ीवाद का विरोध, 26. मुक्ति सम्बन्धी विशिष्ट मान्यता, 27. षट्द्रव्य विष-यक मौलिक विचार धारा, 28, चतुर्गति (देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति) से सम्बद्ध उदार विवेचना, 29. साधना के क्रमिक विकास से सन्दर्भित भव्य भावना, 30. लोक-संस्कृति के प्रति प्रगाढ़ अनुरक्ति, 31. अन्तर्मानव की पूर्णता में उन्नति के चरम रूप की अवधारणा इत्यादि।

जितना सूक्ष्म एवं व्यापक विश्लेषण अहिंसा का जैन संस्कृति में हुआ है उतना अन्य संस्कृति में नहीं है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर जिस यज्ञ सम्बन्धी हिंसा को परम धर्म कहा गया है उसे भी जैन संस्कृति में त्याज्य कहा गया है। जैन संस्कृति सदैव अहिंसा वादिनी, सूक्ष्म प्राणियों की भी रक्षा करने वाली और मानव जीवन के विविध क्षेत्रों में अहिंसा का सर्वाधिक प्रयोग करने वाली रही है। इस दृष्टिकोण से जैन तत्त्वज्ञान ने जीव-विज्ञान का अति-सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन योग्य विवेचन किया है। इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि जैन धर्म की अहिंसा सम्बन्धी देन की तुलना विश्व साहित्य में और विश्व संस्कृति में इतर सभी धर्मों की देनों के साथ नहीं की जा सकती है।

जैन संस्कृति में ईश्वर की जो कल्पना एवं विवेचना की गई है वह वैदिक संस्कृति से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार जैन संस्कृति ने प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने की जो सक्षमता बताई है वह वैदिक संस्कृति में अनुपलब्ध है। इसके अतिरिक्त जैन संस्कृति के कथनानुसार प्रत्येक जीव अपने किये हुए कर्मों का स्वयं उत्तरदायी है। जिस प्रकार वह कर्म करने में स्वतन्त्र है उसी प्रकार फल भोगने में भी वह पूर्ण आजाद है। वैदिक संस्कृति में जिस अवतारवाद को मान्यता दी गई है उसे जैन संस्कृति ने नहीं माना है। इतर संस्कृतियों के समान जैन संस्कृति इस महान् सृष्टि को पर निर्मित न मान कर स्व-निर्मित मानती है। वैदिक संस्कृति जिस प्रकार ईश्वर को जगत् का कर्ता, संरक्षक एवं विनाशक मानती है, उस प्रकार जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता है।

पदार्थ विज्ञान तथा कर्म विज्ञान की जितनी गम्भीर विवेचना जैन संस्कृति में की गई है उतनी अन्य संस्कृतियों में नहीं हो पाई है।

पुनर्जन्म और कर्म-ये दोनों सिद्धान्त समस्त आत्मवादी भारतीय दर्शनों में समान रूप से मान्य है। प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा उसे फल भोगना पड़ता है। पर जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अन्य दर्शनों से भिन्न रूप में वर्णित है। जैन दर्शन में कर्म केवल एक संस्कार मात्र ही नहीं है। किन्तु वह एक पदार्थ है जो रागी-द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ मिल जाता है। यह एक भौतिक पदार्थ है, जो जीव की क्रिया के द्वारा आकृष्ट होकर जीव से बंधता है। यह बन्धन ही कर्म कहलाता है। आशय यह है कि जहां अन्य दर्शन राग और द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं और उस कर्म के क्षणिक होने पर भी उसके संस्कारों को स्थायी मानते हैं वहां जैनदर्शन में स्वीकार किया गया कि राग-द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक, वाचिका और कायिक क्रिया के साथ एक प्रकार द्रव्य जीव में आता है जो राग-द्वेष रूप भावों का निमित्त पाकर जीव से बंध जाता है और आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है।

जैन संस्कृति में आत्मा की जिस स्वतन्त्रता का उल्लेख किया गया है, उसकी चर्चा वैदिक संस्कृति में नहीं है। आत्मा निष्कलंक होकर परमात्मा हो जाती है यह मान्यता जैन संस्कृति के मूल तत्वों में प्रसरित हुई है लेकिन उपनिषद् में आत्मा को ब्रह्म का अंश स्वीकार किया गया है। गीता में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है—'ममैवांशो जीवलोके।''

कर्म बन्धनों से मुक्त होकर आत्मा ही परमात्मा हो जाती है यह प्रमाणित करके जैन संस्कृति ने जीव की चरमोन्नति को स्वीकारा है। आत्मा के स्वतन्त्र

अस्तित्व को मानकर जैन संस्कृति ने एक महान् सत्य को विश्व के दार्शनिकों के सम्मुख रखा है। इस प्रकार जैन संस्कृति की कतिपय मौलिक विशेषताओं का यहाँ वर्णन किया गया है।

वैदिक संस्कृति सदैव सच्चाई की खोज में रही है। फलतः समन्वयात्मक दृष्टि को अपनाते हुए इस संस्कृति ने अन्य संस्कृतियों के तथ्यों को अपनाकर अपनी उदारता का परिचय भी दिया है। जैन धर्म की अहिंसात्मक भावना का स्वागत करते हुए वैदिक संस्कृति ने कुछ समय के अनन्तर अहिंसा की व्यापक भावना को अपनाया और क्रिया काण्डों में प्रचलित अहिंसा की किसी न किसी रूप में अवहेलना की। इसी प्रकार जैन संस्कृति के कर्म सिद्धान्त को अंगीकार किया और वैदिक संस्कृति के स्वरों में यह गूंजने लगा कि—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा॥ —"गोस्वामी तुलसीदास"

आध्यात्म रामायण में बारम्बार यही कहा है कि—

"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता।
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।

अर्थात् सुख-दुःख देने वाला कोई नहीं है, दूसरा सुख-दुःख देता है यह तो कुबुद्धि ही है।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रमण संस्कृति भारत की एक महान् संस्कृति और सभ्यता है जो प्राग् ऐतिहासिक काल से ही भारत के विविध अंचलों में फलती-फूलती रही है। यह संस्कृति वैदिक संस्कृति की धारा नहीं है अपितु एक स्वतन्त्र संस्कृति है। इस संस्कृति की विचारधारा वैदिक संस्कृति की विचारधारा से पृथक है। वैदिक संस्कृति प्रवृत्ति प्रधान है और श्रमण संस्कृति निवृत्ति प्रधान है, वैदिक संस्कृति विस्तारवादी है और श्रमण संस्कृति शम, श्रम, सम प्रधान है। वैदिक संस्कृति का प्रतिनिधि ब्राह्मण है, श्रमण संस्कृति का श्रमण है। जो बाह्य दृष्टि से विस्तार करता है वह ब्राह्मण है और जो शान्ति तपस्या व समत्वयोग की साधना करता है, वह श्रमण है। ब्राह्मण संस्कृति विस्तारवादी होने से प्रवृत्ति प्रधान है, श्रमण संस्कृति निवृत्ति प्रधान है। ब्राह्मण संस्कृति ने ऐहिक अभ्युदय पर बल दिया है, श्रमण संस्कृति ने आत्मा की शाश्वत मुक्ति पर बल दिया है। इस प्रकार दोनों का लक्ष्य पृथक-पृथक होने से दोनों संस्कृतियों में मौलिक अन्तर है।

———

पंचम अध्याय

हरिवंश पुराण कालीन सामाजिक जीवन

अन्य पुराणों के समान हरिवंशपुराण में भी तत्कालीन सामाजिक स्थितियों के चित्र उपलब्ध होते हैं उनका अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है—

हरिवंश पुराण के वर्णन से यह सुव्यक्त हो जाता है कि इस काल में वर्णों की शुद्धि बनाये रखने की प्रवृत्ति स्मृतियों के नियमों की भांति कठोर नहीं हुई थी। वह प्रगतिशील तथा परिवर्तनशील है। अनेक स्थलों म कर्मों के अनुसार ब्राह्मणों को नीच जाति मे जाते हुए कहा गया है।

इस युग मे जो वर्ण व्यवस्था की रूपरेखा बनी, वह वैज्ञानिक थी, और व्यवहारिक दृष्टि से भी परिपुष्ट थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्ण व्यवस्था के आधार पर किसी भी व्यक्ति को जो चाहे उसके पिता किसी भी वर्ण के क्यो न हों अपनी सद्वृत्तियों के द्वारा उच्चतर हो जाने का पूर्ण अवसर प्राप्त था। यह बात जिनसेनाचार्य द्वारा बताये गये वर्णों के कर्तव्यों में पंचमी के प्रयोग से भी सिद्ध होती है।[1]

चार वर्ण

हरिवंशपुराण में वर्ण क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का उल्लेख हुआ है।

1. **ब्राह्मण**— ब्राह्मण यज्ञ–यागादि करते और वैदिक साहित्य का अध्ययन-अध्यापन करते थ। राजा और श्रीमन्तों का पौरोहित्य भी उनकी आजीविका का साधन था।[2] सेना के प्रयाण के साथ भी कुछ विद्वान् पण्डित जाते थे, जो स्नानापरान्त टीका लगाकर गले में फूलों की माला डालकर शरीर पर चन्दन का लेप करके दर्भ से संध्यावन्दन किया करते थे।[3] तिल और जौ देकर पितरों को पिण्डदान की क्रिया प्रचलित थी।[1] समाज में अन्य वर्णों में ब्राह्मणों की क्या स्थिति थी? इस सम्बन्ध में हरिवंशपुराण से कोई अनुमान नहीं लगता है।

---

1. क्षत्रिया: क्षतित्राणात्, वैश्या वाणिज्य योगत: ...
 —हरिवंशपुराण, 9।39
2. हरिवंशपुराण, 11।105–106
3. जम्बूस्वामि चरित, 5।11
4. (क) हरिवंशपुराण, 11।105–106
 (ख) जम्बूस्वामि चरित, 2।6

2. क्षत्रिय—क्षत्रियों का कार्य युद्ध मे लड़ना था। यही उनकी आजीविका थी। केवल राजाओं को ही पुराण में क्षत्रिय नाम से कहा गया है। विनाश से जीवों की रक्षा करने के कारण क्षत्रिय कहे जाने लगे।"[5]

3. वैश्य—जिनसेनाचार्य ने व्यापार, वाणिज्य को वैश्यों का व्यवसाय बताया है। व्यापारी जल और थल दोनो मार्गों से व्यापार करते थे। अन्य वर्णों की अपेक्षा वैश्यो की आर्थिक स्थिती अच्छी प्रतीत होती है।

4. शूद्र—पुराण में शूद्रो का सम्बन्ध शिल्पादि कर्मों से बताया गया है।

अन्य पुराणों मे तुलना

हरिवंश-काल की सामाजिक विशेषताओं का मूल्यांकन केवल इस पुराण मे बिखरी सामग्री को प्रस्तुत करना नही हो जाता अपितु इसके लिए अन्य पुराण तथा विभिन्न प्रमाणों द्वारा वर्णित सामाजिक अवस्था का अध्ययन आवश्यक है। इस तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा हरिवंशपुराण की विशेषताए अधिक प्रकाश मे आती है।

पुराण पचलक्षण के अन्तर्गत राजवंशों के वर्णन सभी पुराणों में नही मिलते। यह प्रसग विशद रूप मे विष्णु, महाभारत का खिल हरिवंश तथा वैष्णव पुराणो में है। भागवत में भी राजवंशो के वर्णन के अन्तर्गत वर्णान्तर विवाहो के कुछ उदाहरण देखे जा सकते है। पुराणो म अधिक अथवा न्यून मात्रा मे मिलने वाले वर्ण मिश्रण के उदाहरण पौराणिक वंश वर्णन के अग ज्ञात होते है।

पुराणो के वर्ण-मिश्रण मे अनेक स्थलो पर विचार भेद दिखलाई देता है। हरिवंश म नरिष्यत् के पुत्रो को शक कहा गया है।[6] विष्णु नरिष्यत् के पुत्र को दम कहता है।[7] हरिवंश से बहुत कुछ प्रेरणा लेने वाला ब्रह्म पुराण राजवंशो के विषय का संक्षिप्त रूप म प्रस्तुत करता है। प्रतीत होता है कि वर्ण-संकर तथा अनुलोम प्रतिलोम विवाहो का वर्णन हरिवंश से संग्रहित होने के कारण लगभग समानता रखता है।

हरिवंश तथा अन्य पुराणो के वंशवर्णन का प्रसंग वर्णाश्रम सम्बन्धी सामग्री के लिए महत्त्वपूर्ण है। पुराणो म वर्णचतुष्टय सम्बन्धी प्रसग के संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन से ज्ञात होता है कि पौराणिक विषय सामग्री मे अवश्य इनका कोई अभिप्राय रहा होगा। सभी पुराणो के अन्तर्गत वर्णाश्रम की सामग्री के द्वारा ज्ञात होता है कि यह इन घटनाओ के प्रस्तुत करने का एक मात्र उद्देश्य कर्मक्षेत्र मे सभी

---

5. हरिवंशपुराण, 9।39
6. खिल हरिवंशपुराण, 1।10।28
7. स मरुत्तश्चक्रवर्ती नरिष्यन्त नामान पुत्रमवाप। तस्माच्च दम:॥

—विष्णु पुराण, 4।1।34-35

जातियों के समान अधिकार को सूचित करना था। उचित अथवा अनुचित कर्मों के अनुसार अच्छी अथवा बुरी जाति में जन्म लेने वाले ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के वृत्तान्त इसी प्रकृति के उदाहरण हैं।

पौराणिक वंशवर्णनों में वर्णाश्रम सम्बन्धी तत्वों की व्याख्या महाभारत में मिलती है। शान्तिपर्व में भीष्म, युधिष्ठिर को त्याज्य धर्मों का उपदेश देते हैं। भीष्म के अनुसार दुश्चरित्र, धर्महीन, वृषलीपति, पिशुन, नर्तक, ग्रामवैश्य तथा विकर्मी व्यक्ति शूद्र कहे जा सकते हैं।[8] पूर्वोक्त प्रकार का व्यक्ति चाहे वेदपाठ करने वाला ब्राह्मण ही क्यों न हो शूद्र की संज्ञा को प्राप्त होता है।[9] शान्तिपर्व में जाजली तथा तुलाधार का प्रसंग जातिगत उदारता का एक अन्य उदाहरण है। यहाँ पर ब्राह्मण जाजलि उच्चकोटि के आध्यात्मिक ज्ञान के लिए तुलाधार वणिक् के पास जाता है। तुलाधार के अनुसार आशीर्वाद तथा कर्म चाटुकारिता तथा आत्म प्रशंसा से रहित और समस्त कर्मों के फल को छोड़ देने वाला व्यक्ति ही ब्राह्मण है।[10]

शान्तिपर्व में जनक के पूछने पर कर्म और जाति में कौन श्रेष्ठ है ? याज्ञवल्क्य कर्म को ही श्रेष्ठ बताते हैं।[11] याज्ञवल्क्य पुनः सभी जातियों को ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण तथा समस्त विश्व को ब्रह्ममय बतलाते हैं।[12]

स्त्री वर्ग की स्थिति

लौकिक दृष्टि कोण—स्त्रियों के प्रति लोक के दृष्टिकोण विविध प्रकार के थे। उनमें कतिपय पौराणिक उदाहरणों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है—

1. एक समय श्रावस्ती का राजा शीलायुध एक तपस्वी के आश्रम में पहुँचा। वहाँ अकेली ऋषिदत्ता कन्या ने उसे रुचिवर्धक एवं उत्तमाहार देकर अतिथि सत्कार किया। ऋषिदत्ता सुन्दरी तो थी ही, उस पर बल्कलों के कारण उसके स्तनों की शोभा और भी अधिक मनोहारिणी हो गयी। फल यह हुआ कि उन दोनों के प्रेम ने विश्वास की अधिकता में पाली हुई अपनी मर्यादा तोड़ दी। शीलायुध ने निशंक होकर एकान्त में ऋषिदत्ता के साथ इच्छानुसार क्रीड़ा की।[13]

8. महाभारत, 12:57:4
9. वही, 12:57:5
10. वही, 12:248:34
11. वही, 12:280:33-34
12. वही, 200:90
13. हरिवंशपुराण, 29:36-39

2. राजा दक्ष ने काम के वशीभूत होकर अपनी पुत्री मनोहारी का स्वयं ने कर ग्रहण कर लिया। दक्ष की पत्नी इलादेवी इस कुकृत्य से रूष्ट हुई और पिता से पुत्र को अलग कर कहीं चली गई।[14]

3. वत्सदेश के राजा सुमुख वन विहार के लिए जाते हुए मार्ग में एक वनमाला नामक सुन्दरी को देखकर मोहित हो गये। पति की अनुपस्थिति में वनमाला का हरण करवा कर राजा सुमुख वनमाला के साथ प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे।[15]

4. एक दिन युवराज नमुचि तथा उसकी बहिन सुसीमा दोनों ही स्नान के लिए समुद्र तट पर आये। नारद ने श्रीकृष्ण को उनके आने की खबर दी। श्रीकृष्ण खबर पाते ही बलदेव को साथ लेकर वहाँ गये और नमुचि को मार कर तथा सुसीमा का हरण कर द्वारिका आ गये और सुसीमा को स्वर्णमय महल देकर उसके साथ इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगे।[16]

5 राजा मधु चन्द्राभा पर (वीरसेन की पत्नी पर) मोहित हो उसको किसी प्रपंच में फांस कर अपनी पत्नी बनाकर, इच्छानुसार रमण करने लगा।[17]

6. द्रौपदी अर्जुन की स्त्री थी। उसमें युधिष्ठिर और भीम की बहू जैसी बुद्धि थी और सहदेव तथा नकुल उसे माता के समान मानते थे। द्रौपदी की भी पाण्डु के समान युधिष्ठिर और भीम मे श्वसुर बुद्धि थी और सहदेव और नकुल इन दोनों देवरों मे अर्जुन के प्रेम के अनुरूप उचित बुद्धि थी। [18]

7. एक समय राजा कीचक अपनी बहिन को देखने के लिए विराट्नगर आया। वहाँ उसने द्रौपदी को देखा। उस समय द्रौपदी किसी विशिष्ट सुगन्धित पदार्थ के संयोग से समस्त दिशाओं को सुगन्धित कर रही थी एवं रूप लावण्य एवं सौभाग्य आदि गुणों से उसका शरीर परिपूर्ण था। यद्यपि कीचक मानी था तथापि उसका मन देखते ही द्रौपदी के विषय में हीनता को प्राप्त हो गया। वह वहाँ से अन्यत्र जाता था तब भी उसका मन द्रौपदी के साथ तन्मयता को प्राप्त रहता था। कीचक ने अनेक उपायों से द्रौपदी को स्वयं लुभाया तथा दूसरों के द्वारा भी अनेक प्रलोभन दिखलाये। परन्तु वह उसके हृदय में स्थिति को प्राप्त न कर सका। द्रौपदी उसे तृण के समान समझती थी [19]

14. हरिवंशपुराण, 17।15-16
15. वही, 14।2-100
16. वही, 44।26-31
17. वही, 43।171-176
18. वही, 45।150-151
19. वही, 46।28-32

निष्कर्ष— उपर्युक्त विवरणों से अवगत होता है कि उस समय स्त्री जाति का समाज में कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं था। स्त्रियां पुरुषों के इच्छाधीन उपभोग के लिए उपकरण-मात्र थी। चल-सम्पत्ति के रूप में स्त्रियों का उपभोग किया जाता था।

ऋग्वेद में हम पाते है कि विवाह के समय में ही पत्नी को एक आदरणीय स्थान दे दिया जाता था और वह अपने पति के गृह की स्वामिनी बन जाती थी, पश्चात्-कालीन संहिताओं में और ब्राह्मण ग्रंथों में पत्नी के सम्मान में न्यूनता का भी प्रतिपादन मिलता है। मैत्रायणी संहिता में तो द्यूत और मद्य के साथ विलासिता की सामग्रियों में इसकी गणना की गयी गई है। प्राचीन बौद्ध सम्प्रदाय में स्त्री जाति के प्रति अधिक सम्मान प्रदर्शन का विवरण उपलब्ध नहीं होता है। बौद्ध स्त्री जाति को संघ में प्रविष्ट कराने में अनिच्छुक थे और इसलिये कुमार श्रमणाओं के लिए अलग नियम की व्यवस्था की गई है। जातक साहित्यों में स्त्रियों के दुष्ट स्वभाव का बहुधा विवरण मिलता है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में भी स्त्रीजाति के गौरव के क्रमिक ह्रास का प्रसंग मिलता है और इसी कारण इसे आजीवन स्वतन्त्रता से वंचित रखा गया है तथा इस जाति के चारित्र पर भी दोषारोपण किया गया है। वैदिक युग में दीक्षा आदि धार्मिक और सामाजिक संस्कारों में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार था। वेदों में स्त्री को शूद्रों की श्रेणी में वर्णित नहीं किया गया है और साहित्य भी इस दिशा में मौन है।

शिक्षा—पुराण के परिशीलन से अवगत होता है कि उस युग में स्त्री-शिक्षा की मात्रा चरम-सीमा पर पहुँची हुई थी। स्त्री जाति की उच्च शिक्षा, तपश्चरण और योग-सिद्धि के सम्बन्ध में अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं यथा

1 ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी दोनों पुत्रियां अक्षर, चित्र, संगीत और गणित शास्त्र में पारंगत थी।[20]

2. एक स्थान पर मरु देवी के अक्षर-विज्ञान, चित्र-विज्ञान, संगीत विज्ञान, गणित-विज्ञान, आगम-विज्ञान, तथा उसके कला कौशल की प्रशंसा की गई है।[21] अनेक स्त्रियां मधुर गान गाती थी एवं मनोहर नृत्य भी करती थी।[22]

3. सोमा और विजयसेना गन्धर्व आदि कलाओं में परम सीमा को प्राप्त थी इसलिए उनके पिता सुग्रीव ने ऐसा विचार कर लिया था कि जो गन्धर्व विद्या में इनको जीतेगा वही इनका भर्ता होगा।[23]

20. वही, 9।24
21. वही, 8।43
22. वही, 8।44
23. वही, 19।56

4, चारुदत्त की पुत्री गन्धर्वसेना जो कि संगीतशास्त्र में पारंगत थी की प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे संगीतशास्त्र में जीतेगा उसके साथ ही मैं विवाह करूंगी।[24]

5. सोमशर्मा के भद्रा और सुलसा नामकी दो पुत्रियां थी जो वेद व्याकरणादि शास्त्रों में परम पारगामिनी थीं। इन दोनों ने कुमारी अवस्था में ही वैराग्यवश परिव्राजक की दीक्षा ले ली और दोनों ही शास्त्रार्थ में अनेक वादियों को जीत कर पृथ्वी पर परम प्रसिद्धि को प्राप्त हुई।[25]

उपर्युक्त विवरणों से अवगत होता है कि उस युग की स्त्रियां अक्षर विज्ञान, चित्र विज्ञान, संगीत विज्ञान, गणित विज्ञान, वेद व्याकरणादि विद्याओं की प्रत्येक शाखा में सम्यक् शिक्षा सम्पन्न होती थीं।

वैदिक युग में स्त्रियों की उच्च शिक्षा का विवरण मिलता है। उस युग में स्त्रियां बौद्धिक व्यापार में भी भाग लेती थी।[26] सर्वानुक्रमणिका में ऋग्वेदीय मन्त्रों की लेखिकाओं के रूप में बीस स्त्रियों के नाम प्राप्त होते हैं।[27] उपनिषद् की मैत्रेयी और गार्गी नामक दो स्त्रियां अपनी ज्ञाननिष्ठता के लिए प्रसिद्ध हैं। वैयाकरणों के प्रसंग में कतिपय अध्यापिका स्त्रियों का भी पता चलता है।[28] जातक युग में स्त्री शिक्षा कुछ मन्द पड़ चुकी थी परन्तु फिर भी कुमार श्रमणाओं (भिक्खुनियों) के रूप में स्त्रियों का संघ में प्रवेश होता था। धर्म-शास्त्रों में संकेत मिलता है कि स्त्रियों की साहित्य शिक्षा उस समय प्राय: समाप्ति की अवस्था में थी।[29]

अवधता—जब श्यामा के पति वसुदेव को अंगारक उससे विलग कर आकाश में उड़ा ले जाता है तब श्यामा तलवार और ढाल हाथ में ले उसका मुकाबला करने जाती है तब अंगारक कहता है, कि संसार में स्त्री को मारना निन्दित समझा जाता है, अत: तू मेरे आगे से भाग जा।[30]

प्राचीन काल से यह मान्यता चली आ रही है कि किसी भी परिस्थिति में स्त्रियां अवध्य होती हैं।[31] शतपथ ब्राह्मण में भी स्त्री की अवध्यता[32] के प्रतिपादन के साथ कहा गया है कि केवल राजा (गौतम धर्म सूत्र और मनु स्मृति के अनुसार)

---

24 वही, 19:122-123
25. वही, 21:132-33
26. वैदिक इण्डेक्स,2:537
27. हिन्दु धर्म, 2:368
28. मेहता रतीलाल, प्री बुद्धिस्ट इण्डिया-1939, पृष्ठ 298
29. हिन्दु धर्म, 2:368
30. स्त्रीवधोऽयोके गृहीतो - ...,हरिवंशपुराण, 19:105
31. हिन्दु धर्म, 2:593
32. अल्टेकर, ए०एस० : पोजीसन ऑफ विमन इन एनसियन्ट इण्डिया, पृष्ठ 380

निम्न जाति के पुरुष के साथ संगम करने पर स्त्री को प्राण दण्ड दे सकता है किन्तु इस दण्ड विधान के कारण राजा को थोड़ा प्रायश्चित भी करना होता है।[33]

विवाह—भारतवर्ष में प्राचीन समय से ही विवाह संस्था का सम्मान और महत्त्व अधिक रहा है तथा आज भी है। आगम में विवाह, स्त्री और पुरुष में केवल ठेका भर नहीं बल्कि एक आध्यात्मिक एकता है और एकता का वह पवित्र बन्धन है जो दैवी विधान से सम्पन्न होता है। इस प्रकार के विवाह का एक उद्देश्य यह भी था कि वंश की बेल जारी रहे।[34]

विवाहावस्था—हरिवंशपुराण में विवाहावस्था की निश्चित जानकारी नहीं मिलती। हाँ इतना अवश्य कहा गया है कि वर और वधु को समान वय होना चाहिये जान पड़ता है कि प्राचीन भारत में बड़ी अवस्था मे विवाह होना हानिप्रद समझा जाता था। एक लोक श्रुति उद्धृत की गई है कि यदि कन्या रजस्वला हो जाय तो जितनी रुधिर की बिन्दु गिरे उतनी ही बार उसकी माता को नरक का दुःख भोगना पड़ता है।[35]

परन्तु पुराण के परिशीलन से प्रतीत होता है कि विवाह दो विकसित व्यक्तियों का सम्बन्ध होता था। पिता के घर में ही युवा हो जाने वाली अथवा विवाह की इच्छा से अपने को अलंकृत रखने वाली ऐसी ही कन्याओं द्वारा यह बात सिद्ध होती है। पुराण में एक स्थल पर ऋतुमती होने का उल्लेख आया है।[36] तथा एक अन्य स्थल पर 'कानीन' शब्द का उल्लेख आया है,[37] इसके अलावा भी पाणिग्रहण तथा सहवास हरिवंशपुराण के विवाह का अनिवार्य अंग था। एक अन्य स्थल पर ऋषभदेव के पूर्ण युवा होने पर सुन्दरी और प्रौढ़ यौवनवती नन्दा के साथ विवाह होने का वर्णन किया गया है।[38]

बरात—द्रौपदी एवं राजीमती के विवाह में वर पक्ष वाले बहुत से सगे सम्बन्धी तथा राजे महाराजे बरात के रूप में आये थे।[39]

विवाह मे सम्मिलित, निमन्त्रित या अनिमन्त्रित सभी को विधिवत् अभ्यर्थना करके उन्हें अच्छी तरह खिलाया पिलाया जाता था। यहाँ तक कि उनकी इच्छानुसार

33. पाटिल डी०के०क० : कलचरल हिस्ट्री फोम वायु पुराण-पुना, 1964, पृष्ठ 156
34. पुत्रार्थो हि स्त्रियः-अर्थशास्त्र, 3।2।59।53
35. पिण्डनियुक्ति टीका, 509
36. हरिवंशपुराण, 29।40
37 वही, 50।88
38 वही, 9 18
39. वही, 55।87

शाकाहारी को शाकाहार तथा मांसाहारी को मांसाहार भोजन कराया जाता था।[40] पुराण में इस प्रकार के जितने भी वर्णन मिलते हैं वे सब धनी समाज के ही हैं। मध्य-वित्त व दरिद्रता का कोई चित्र नहीं मिलता है। धनी समाज के नियम सम्भवतः सभी समाजों में अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रचलित थे। आनन्द सभी के लिए समान था। हर बात में श्रेष्ठों का अनुकरण समाज में सदा से प्रचलित रहा है।

विवाहों के प्रकार—विवाह के आठ प्रकार का विधान मिलता है[41] जैसे ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, एवं पैशाच।

1. **ब्राह्म**--वर की विद्या, बुद्धि, वंश आदि के बारे में विशेष रूप से पता लगाकर सद्वंशज सच्चरित्र वर को कन्या का संरक्षक यदि कन्या सम्प्रदान करे तो वह विवाह "ब्राह्म" होता है।

2. देव—यज्ञ में वृत ऋत्विक् को यदि कन्या दान की जाय तो उस विवाह को देव विवाह कहते है।

3. आर्ष—कन्या के शुल्क रूप में वर से दो गायें लेकर कन्यादान करने को आर्ष विवाह कहते हैं।

4. प्राजापत्य—वर को धन सम्पत्ति से सन्तुष्ट करने के बाद यदि उसे कन्यादान से सन्तुष्ट किया जाय तो वह प्राजापत्य विवाह होता है।

5. आसुर—कन्यादाता को बहुतसा धन या कन्या के परिवार वालों को नाना प्रकार से प्रलोभित करके यदि कन्या ग्रहण की जाय तो वह आसुर विवाह होता है।

6. गांधर्व—वर व कन्या के प्रणय के फलस्वरूप जो विवाह सम्पादित हो उसका नाम गांधर्व विवाह है। एक दूसरी जगह कहा गया है कि यदि कामी पुरुष सकामा कुमारी के साथ एकान्त मे संसर्ग करे तो वह मिलन ही गांधर्व विवाह है।

7. राक्षस—कन्याकर्ता के कन्या प्रदान में असम्मत होने पर भी उद्दत परिणेता यदि कन्यापक्ष वालों पर अमानुषिक अत्याचार करके सिर पीटती और रोती बिलखती कन्या को बलपूर्वक ले जाता है तो उस विवाह को राक्षस विवाह कहते है।

8 पैशाच सुप्त अथवा प्रमत्त कन्या के साथ बलात्कारपूर्वक रमण करने का नाम पैशाच विवाह है।

---

40. वही, 55.87-88

41. (क) अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मतः।

—महाभारत, 73.8, 9.102.12.16

(ख) ब्राह्मोदैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वराक्षसौ चान्यौ पैशाचश्चाष्टमोमतः।

—विष्णु पुराण, 3.10.24

विवाह की श्रेष्ठता

उपर्युक्त विवाहों में ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य और आर्ष ये चार धर्म-सम्मत हैं मनु ने आर्ष में गोमिथुन आदि लेने को हीन बताया है।[42] अतः धनादान रहित आर्ष विवाह ही प्रशस्त है। आसुर-विवाह में कन्याकर्ता वर से धन ग्रहण करता है, इसलिये यह विवाह धर्म सम्मत नहीं है। विशेषतः आसुर-विवाह अत्यन्त ही निन्दनीय है। गांधर्व एवं राक्षस विवाह उतने प्रशस्त न होते हुए भी क्षत्रियों के लिये अधर्मकारक नहीं है। पैशाच विवाह सर्वथा परित्याज्य है अर्थात् निन्दनीय है।

हरिवंश में मिश्रित विवाह विधि

उल्लिखित आठ विवाह विधियों में से कोई भी एक बिल्कुल विशुद्ध रूप से हमेशा समाज में पूर्ण रूप से प्रचलित नहीं थी। अनेक विवाहों में एकाधिक प्रकारों की विधियों का मिश्रण पाया जाता है। दो विवाह प्रकारों के मिश्रित रूपों में रुक्मणी का विवाह राक्षस व गान्धर्व विधियों का मिश्रित रूप था।[43] इसी प्रकार सुभद्रा के विवाह में राक्षस तथा प्राजापत्य का,[44] सुसीमा के कृष्ण के साथ विवाह में प्राजापत्य और राक्षस विधियों का मिश्रण पाया जाता है[45]

गांधर्व व राक्षस विवाह विधियाँ समाज में हेय

गाधर्व और राक्षस विवाह के क्षत्रियो में काफी प्रचलित होने पर भी लोगों की दृष्टि में वे निन्दनीय ही माने जाते थे। क्योंकि गांधर्व विवाह मे लड़का और लड़की अपनी इच्छा से विवाह कर अभिभावकों की उपेक्षा कर देते थे। इन विवाहों में किसी के भी अभिभावक की सम्मति आवश्यक नहीं थी। राक्षस विवाह एक मात्र वर की इच्छा व भुजबल पर आधारित था। यही राक्षसी प्रवृत्ति आधुनिक भाषा में गुण्डा-गिरी कही जा सकती है। यह समाज में कण्टक रूप होती है। इसी कारण समाज में काफी लोग उन्हें पसन्द नहीं करते थे। स्वयवर प्रथा भी काफी अंशों में गांधर्व विवाह जैसी ही है। इसलिए स्वयवर को भी सब लोग प्रशस्त पद्धति में नहीं गिनते थे।

समाज में गांधर्व व राक्षस विधिका प्रसार

समाज में ऊँचे आदर्शों के बीच स्थान न मिलने पर भी गांधर्व विवाह का वर्णन ही अधिक मिलता है। श्रीकृष्ण द्वारा लक्ष्मणा का हरना,[46] मधु द्वारा चन्द्राभा

---

42. मनु, 3।53 तथा उस पर कुल्लूक भट्ट की टीका
43. हरिवंशपुराण, 42।25–107
44. वही, 47।12–20
45. वही, 44।26–32
46. वही, 44।21–25

का हरण,[47] कृष्ण के द्वारा ही सुसीमा,[48] रुक्मणी[49] तथा जाम्बवती का हरण[50] राक्षस विवाह के अन्तर्गत आते हैं।

स्वयंवर प्रथा

पुराण में स्वयंवर प्रथा के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। यौवना अवस्था प्राप्त कर लेने पर कन्याएँ सभा में उपस्थित विवाहार्थियों में किसी एक को अपना पति चुन लेती थी, इसको स्वयंवर कहा जाता था। स्वयंवर शब्द को स्पष्ट करते हुए जिनसेनाचार्य कहते हैं–कि स्वयंवर में कुलीन अथवा अकुलीन का कोई क्रम नहीं होता। इसलिए कन्या के पिता भाई अथवा स्वयंवर की विधि को जानने वाले किसी अन्य महाशय को इस विषय में अशान्ति करना योग्य नहीं है। कोई महाकुल में उत्पन्न होकर भी दुर्भग स्त्री के लिए अप्रिय होता है और कोई नीच कुल में उत्पन्न होकर भी सुभग स्त्री के लिए प्रिय होता है। यही कारण है कि इस विषय में कुल और सौभाग्य का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।[51] उदाहरण के लिये—

1. स्वयंवर मण्डप में अनेक विद्याधर इकट्ठे हुए। बनारस के राजा अकम्पन की पुत्री सुलोचना ने हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के पुत्र मेघेश्वर जयकुमार को वरा।[52]

2. रोहिणी के स्वयंवर में जरासन्ध, समुद्रविजयादि राजा आये और यथाक्रम बैठ गये। कुमार वसुदेव भी स्वयंवर में गये और पाण्व बाजा बजाने वाले के पास जाकर बैठ गये। तदनन्तर रोहिणी ने स्वयंवर में प्रवेश किया और वसुदेव का वरण कर लिया।[53]

3. धनश्री के स्वयंवर में अनेक विद्याधरों के पुत्र आये परन्तु कन्या ने उनमें अपने पिता के भानजे को वरा।[54]

4. राजा द्रुपद ने यह घोषणा की कि जो गाण्डीव धनुष को गोल करने एवं वेधने में समर्थ होगा वही द्रौपदी का पति होगा। जब किसी से भी नहीं टूट सका तो अन्त में अर्जुन ने उसका सन्धान कर द्रौपदी का वरण किया।[55]

47. वही, 43।171-176
48. वही, 44।29-32
49. वही, 42।74-97
50. वही, 44।9-19
51. वही, 31।53-55
52. वही, 12।8
53. वही, 31।12-43
54. वही, 33।136
55. वही, 45।127-135

स्वयंवर पिता के घर, राक्षस विवाह ससुराल में

स्वयंवर सभा का अनुष्ठान कन्या के पिता के यहाँ होता था[56] और राक्षस विवाह कि विधियाँ वर के घर पर ही की जाती थी।[57] दूसरे विवाहों के बारे में इस तरह के कोई नियम नहीं थे। कभी वर के घर कन्या को लाकर विवाह हुआ करता था और कभी वर को कन्या के घर बुला लिया जाता था।

सौन्दर्य के आकर्षण से विवाह

स्त्री और पुरुष एक दूसरे के सौन्दर्य को देखकर परस्पर आकृष्ट हो जाते और यह आकर्षण विवाह में परिणत हो जाता था। उदाहरणार्थ अर्जुन के साथ चित्रागंना और भीम के साथ हिडिम्ब की पुत्री दिशानन्दा के विवाह को लिया जा सकता है। किसी किसी जगह युवक प्रथम प्रस्तावक है तो किसी जगह युवती ने पहले आत्म समर्पण किया है।

कला-कौशल देखकर विवाह

परस्पर एक दूसरे के कला-कौशल को देखकर भी विवाह किये जाते थे। सुग्रीव ने अपनी पुत्रियों के लिए जो कि गन्धर्वशास्त्र में पारंगत थी अभिमानवश यह निश्चित किया कि जो इन्हें गन्धर्व विद्या में हरायेगा, इनका भर्ता होगा। तदन्तर वसुदेव ने अपने कला-कौशल से उनको हराकर उन दोनों का वरण किया।[58] वसुदेव ने अपने बाहुबल से नरभोजी राक्षस को मुष्टि के प्रहार से मार भगाया। उसकी इस कला-कौशल से प्रसन्न होकर गिरितट नगरवासियो ने 500 कन्यायें प्रदान की।[59] और फिर उनका विधिवत विवाह किया।

भविष्यवाणी से विवाह

साधु-मुनियों और ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के आधार पर भी विवाह होते थे। अमितगति एक बार एक अवधिज्ञानी मुनि से गान्धर्वसेना के भावी पति के लिए पूछा था। तब मुनि ने बताया कि चारुदत्त के घर गन्धर्व विद्या का पण्डित यदुवंशी राजा आवेगा वह इस कन्या को गन्धर्वशास्त्र में जीतेगा और वह इसका पति होगा। उसी भविष्यवाणी के आधार पर चारुदत्त ने गान्धर्वसेना को वसुदेव को प्रदान कर बहुत धन-धान्य से पूर्ण किया।[60]

---

56. वही, 23:48, 33:135-36, 45:121-129
57. वही, 44:20-25, 44:29:32, 44:46-49
58. वही, 19:55-57
59. वही, 24:5-10
60. वही, 21:167-170

विवाह के अन्य प्रकार

उपर्युक्त विवाहों के अतिरिक्त विवाहों के और भी प्रकार हरिवंशपुराण में उल्लिखित है जो प्रायः ब्राह्मण परम्परा में मान्य नहीं हैं। उस समय मातुल की सन्तान से विवाह वायज समझा जाता था। कंस का जीवयशा के साथ,[61] कनकी का हरिवाहन के साथ,[62] चारुदत्त का मित्रवती के साथ,[63] इसी प्रकार का विवाह था। तथा कहीं कहीं अपनी मौसी की लड़की से भी विवाह होता था।[64] देवर के साथ विवाह होने के भी उल्लेख मिलते हैं।[65]

जैन सूत्रों में भाई बहन की शादी के भी उल्लेख मिलते हैं। भरत और बाहुबली का विवाह ब्राह्मी और सुन्दरी नामकी उनकी बहनों के साथ हुआ।[66]

गोल्ल देश में ब्राह्मणों को अपनी सौतेली माता (माइसवत्ती) के साथ विवाह करने की छूट थी [67] अन्यत्र भी माता और पुत्र के साथ सम्भोग करने के उदाहरण मिलते हैं।[68] पिता और पुत्री के सम्भोग करने का भी उल्लेख मिल जाता है।[69] प्रजापति द्वारा अपनी दुहिता की कामना किये जाने का उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों की भांति जैन ग्रंथों में भी मिलता है।[70] कभी कभी यक्ष बनकर पिता अपनी कन्या का उपभोग करते थे [71]

साटे में विवाह — ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब कि विवाह में अपनी बहन देकर दूसरे की बहन या अन्य कोई दत्त स्त्री ले ले। वसुदेव के द्वारा जीवयशा को कंस को दिलाने के बाद कंस से इस प्रत्युपकार के लिए अपनी बहन देवकी का वसुदेव के साथ सम्बन्ध कर दिया।[72] आजकल भी मथुरा के चौबों तथा उत्तरप्रदेश के कुछ हिस्सों में यह प्रथा मौजूद है। इस प्रथा का कारण यह है कि अमुक जाति में लड़कियों की कमी रहती है और अपनी जाति के बाहर विवाह किया नहीं जा सकता। इस प्रकार के विवाह को अदला बदला भी कहा जाता है।[73]

---

61. वही, 33।11–24
62. वही, 33।136
63. वही, 21।38
64. निशीथ चूर्णी पीठिका, पृष्ठ 51
65. पिंडनिर्युक्ति टीका, पृष्ठ 167
66. आवश्यक चूर्णी, पृष्ठ 153
67. पिण्डनिर्युक्ति टीका, पृष्ठ 167
68. आवश्यक चूर्णी-2, पृष्ठ 81, तुलना कीजिये आवश्यक टीका (हरिभद्र), पृष्ठ 580-अ, कथासरित्सागर-जिल्द 7, पृष्ठ 116 आदि।
69. बृहत्कल्पभाष्य, 4।52।20–23, आवश्यक चूर्णी, पृष्ठ 170
70. आवश्यक चूर्णी, पृष्ठ 232
71. उत्तराध्ययन चूर्णी 2, पृष्ठ 89
72. हरिवंशपुराण, 33।10–29
73. सेन्सस इण्डिया, 1931-जिल्द 1, भाग 1, पृष्ठ 252

विधुर विवाह—यदि किसी कारणवश कोई पुरुष अपनी स्त्री को भूल जाये, उसे घर से बाहर करे या कोई कारण उपस्थित होने पर वह स्वयं चली जाये तो ऐसी अवस्था में पुरुष को दूसरा विवाह करने की अनुमति प्राप्त थी।

विधवा विवाह—स्मृतिकारों के मत में निम्न पांच अवस्थाओं में विधवा विवाह को जायज बताया गया है—यदि पूर्व पति का पता न लगता हो, उसकी मृत्यु हो गयी हो, वह, साधु हो गया हो, वह नपुंसक हो या फिर उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया हो।[74]
फिर भी कुल मिलाकर विधवा विवाह को तिरस्कृत समझा जाता है।[75]

बहु पत्नीत्व—प्राचीनकाल में साधारणतया लोग एक पत्नी से ही विवाह किया करते थे और प्रायः धनी और शासक वर्ग ही एक से अधिक पत्नियां रखते थे। राजा और राजकुमार अपने अन्तःपुर की रानियों की संख्या अधिकाधिक रखने में गौरव का अनुभव करते थे और यह अन्तःपुर अनेक राजाओं के साथ उनके मित्रता-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण, उनको राजनीतिक शक्तिशाली बनाने में सहायक होता था। धनवान लोग अनेक पत्नियों को धन, सम्पत्ति, यश और सामाजिक गौरव का कारण समझते थे। इस सम्बन्ध में विशेष कर जयकुमार,[76] वसुदेव,[77] कृष्ण,[78] तथा देवकी के छहों पुत्रों के बत्तीस बत्तीस स्त्रियां थी[79]

बहु पतित्व (पालिएन्ड्री)—जिस संस्कृति में पातिव्रत्य और सतीत्व स्त्री का श्रेष्ठतम आदर्श स्थापित हुआ और जिसमें यावज्जीवन ही नहीं मृत्यु के उपरान्त भी वह पति से परलोक में मिलने की आशा रखती है, उसके अनेक पति करने की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। संस्कृति के प्रवर्तकों और संस्थापकों ने पतिव्रत की जिस उदात्त भावना को जन्म और प्रोत्साहन दिया उसे भारतीय नारी ने इस प्रकार अनन्य निष्ठा से अपनाया कि एक पति के सिवाय दूसरे पति की कल्पना मात्र से उसे घृणा और विद्रोह करता आया है जिसका परिणाम यह हुआ कि सहस्त्रों वर्षों के इतिहास में बहुपतित्व को कभी प्रथा का रूप ही नहीं मिला।

तत्कालीन समय में बहुपतित्व के पक्षपाती दो एक उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का असफल प्रयास करते हैं कि उस समय में बहुपतित्व प्रथा थी। इसका संक्षिप्त विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। वे द्रौपदी का उदाहरण देते हुए कहते है

74. नारद स्मृति, 12:97
75. अलतेकर: हिन्दु सोशल इंस्टिट्यूशन्स' बम्बई 1939
विवाह सम्बन्धी अध्याय, अल्टेकर। वही,पृष्ठ 181–83
76. हरिवंशपुराण, 12:32
77. वही, 24:9
78. वही, 44:3–50
79. वही, 59:116

कि उसका विवाह पाँचों पाण्डवों के साथ हुआ। परन्तु हरिवंशकार ने इस बात को नहीं माना, उनका कहना है कि स्वयंवर में ज्योंहि अर्जुन ने चन्द्रकवेध नामका लक्ष्य वेध दिया, उसी समय द्रौपदी ने शीघ्र ही आकर वर की इच्छा से अर्जुन की झुकी हुई सुन्दर ग्रीवा में अपने दोनों हाथों से माला डाल दी। समय की बात उस समय जोरदार पवन बह रही थी इसलिए वह माला टूट कर साथ ही खड़े हुए पाँचों पाण्डवों के शरीर पर आ पड़ी, इसलिए किसी विवेकहीन तथा चपल मनुष्य ने जोर-जोर से यह वचन कहना शुरू किया कि इसने पाँचों कुमारों को वरा है[80]

इस कथन का समर्थन करते हुए पुराणकार एक अन्य स्थल पर कहते हैं कि द्रौपदी अर्जुन की स्त्री थी, उसमें युधिष्ठिर और भीम की बहू जैसी बुद्धि थी और सहदेव तथा नकुल उसे माता के समान समझते थे। द्रौपदी की भी पाण्डु के समान युधिष्ठिर और भीम में श्वसुर बुद्धि थी और सहदेव तथा नकुल इन दोनों देवरों में अर्जुन के अनुरूप उचित बुद्धि थी।[81]

पुराण में एक जगह नेमिनाथ और राजीमती के विवाह का उल्लेख आया है। नेमिनाथ विवाह के लिए बरात लेकर जा रहे थे, उन्हें मार्ग में ही किन्हीं कारणों से वैराग्य उत्पन्न हो गया, उन्होंने दीक्षा धारण करली। उधर राजीमती जिसने अपने मन में ही नेमिनाथ को अपना पति मान चुकी थी, ने अपने मन को दृढ़ रखा और सुन्दर युवती रानी होने के बावजूद भी अन्य पति का वरण न कर अपने पति के अभाव में दीक्षा का मार्ग चुनना ही श्रेयष्कर समझा।[82]

स्वैरिणी व अप्रियवादिनी स्त्री परित्याज्य

स्वैरिणी कुलटा और वेश्याओं का भी समाज में अस्तित्व था। अप्रियवादिनी एवं दुश्चरित्रा पत्नी का परित्याग करना ही उत्तम है। अप्रियवादिनी से सम्पर्क न रखने पर भी उसका भरण-पोषण पति को ही करना पड़ता था किन्तु दुश्चरित्रा का भरण-पोषण करने के लिए पति बाध्य नहीं है, ऐसी अवस्था में अगर इच्छा हो तो कर भी सकता है और नहीं करें तो उसमें कोई नियम भंग नहीं माना जाता था।

सती प्रथा

पति की मृत्यु होने पर कोई-कोई महिला अपने पति की सहगामिनी बनने के लिए पति की चिता में ही अपने शरीर की आहुती दे देती थी। यह सहमरण प्रथा सर्वत्र व्यापक रूप से प्रचलित नहीं थी। पाण्डु की मृत्यु पर माद्री सती हुई थी, किन्तु कुन्ती ने दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद तप के मार्ग का अव-

80. वही, 45।134–137
81. वही, 45।150-151
82. वही, 55।75–137 का निष्कर्ष

लम्बन किया था। वसुदेव की पत्नी देवकी, भद्रा, रोहिणी और मदिरा इन चारों ने पति के साथ सहगमन किया था। कृष्ण के देह त्यागने पर उनकी कई पटरानियों ने उनका अनुगमन किया।[83]

पर्दा प्रथा

हरिवंशपुराण के अध्ययन के द्वारा यह निष्कर्ष निकालना अत्यन्त कठिन है कि पौराणिक युग कि स्त्रियों को पर्दे में रखा जाता था अथवा वे पुरुषों के समान ही समाज में सर्वत्र स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण कर सकती थी। एतत् सम्बन्ध में दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं—

पर्दा-प्रथा अप्रचलन के स्थल—पुराण में कृष्ण की स्त्रियों का नेमिनाथ के साथ जल-क्रीड़ा करने का उल्लेख है।[84] रुक्मिणी और सत्यभामा आदि आठ पट्टरानियों ने आज्ञा प्राप्त कर पुत्रवधुओं तथा अन्य सौतों के साथ दीक्षा धारण करली।[85] पुराण में भद्रा और सुलसा नामक दो नवयुवतीयों का उल्लेख है जो वेद, व्याकरण आदि शास्त्रों की परम पारगामिनी थी। सुलसा की यह प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे शास्त्रार्थ में जीतेगा मैं उसकी सेविका बनजाऊंगी। याज्ञवल्क्य ने शास्त्रार्थ में हराकर उसका वरण कर लिया।[86] रोहिणी कन्या ने अपने स्वयंवर में आये हुए सब राजाओं का अवलोकन किया तथा उनमे से एक का वरण किया।[87] चारुदत्त की पुत्री गान्धर्वसेना जो सौन्दर्य के गर्व से युक्त थी ने नियम किया था कि जो गन्धर्वशास्त्र, संगीतशास्त्र मे जीतेगा वही मेरा पति होगा। तदनन्तर वसुदेव ने उसे जीतकर वरण किया।[88]

प्रचलन समर्थक स्थल पुराण में अन्तःपुर शब्द का कई बार उल्लेख हुआ है। अन्तःपुर स्त्रियों के लिए गुप्त निवास स्थान होता है। वसुदेव के प्रसंग में शिलादेवी के निवास स्थान का उल्लेख हुआ है जो सात कक्षाओं से घिरा हुआ था।[89] इत्यादि प्रसंगों से ध्वनित होता है कि उस समय स्त्रियों के लिए गोपनियता का प्रबन्ध था।

83, वही, 62।61
84. वही, 55 51–53
85. वही, 61।40
86. वही, 21।132–37
87. वही 31।15–44
88. वही, 19।122–123
89. वही, 19।38

उपर्युक्त स्थलों से पर्दा-प्रथा के निषेध तथा प्रचलन दोनों की सूचना मिलती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि वैदिक काल में पर्दा-प्रथा नहीं थी।[90] ऋग्वेद के छन्दों से विदित होता है कि विवाह के अवसर पर वधू को सभी अभ्यागतों को दिखाया जाता था।[91] अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि जनसमुदाय में स्त्रियों की उपस्थिति वर्जित नहीं थी।[92] इस प्रथा के प्राचीनतम उल्लेख रामायण तथा महाभारत से मिलने लगते हैं। रामायण में वर्णित है कि जिस सीता को गगनचारी प्राणी भी नहीं देख सकते थे, विवाह के समय राजमार्ग से जाते हुए उन्हें मनुष्य देख रहे थे।[93] महाभारत के अनुसार धृतराष्ट्र के वन गमन पर शोकार्त नारियाँ राजमार्ग से जा रही थीं, जो पहले सूर्य और चन्द्रमा के लिए भी अदर्शनीय थी।[94] भासकृत स्वप्नवासवदत्त में वासवदत्ता पर-पुरुष के दर्शन का परिहार करती हुई दिखाई गई है।[95] रघुवंश-निरुपित प्रलय परिवेश में जिस समय पृथ्वी रसातल से बाहर निकाली गई उसे ढकने वाले जल की उपमा मुखावरण से दी गई है।[96] इन्हीं साक्षों से पर्दा-प्रथा के प्रचलित होने का भी पता चलता है। रामायणकालीन नारी व्यसन, युद्ध, स्वयंवर यज्ञ तथा विवाह के समय बिना किसी रुकावट के बाहर निकलनी थी।[97] भासकृत प्रतिमा नाटक मे वर्णित है कि स्त्रियाँ वन मे यज्ञ, विवाह और विपत्ति में बिना बाधा के बाहर निकल सकती है।[98] मन्दसौर के अभिलेख से विदित होता है कि नगर के उद्यान में पुरुष-स्त्रियाँ स्वच्छन्दता के साथ विहार करती थीं।[99]

स्त्री और राज्याधिकार

सम्भवत: स्त्री जाति को राज्य-पद पर अभिषिक्त करना वैधानिक नही माना जाता था, क्योंकि इस बात का कही भी उल्लेख नहीं किया गया है।

---

90. अल्टेकर : पोजीसन ऑफ वुमन इन हिन्दू सिवलीजेशन
91. सुमगंलीरिय वधूरिमां समेत पश्यत।—ऋग्वेद, 10।85।33
92. जुष्टावरेषु समनेषु वल्गुः। -अथर्ववेद, 2।36।1
93. या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
 तामद्य पश्यन्ति राजमार्गं गता जनाः॥ — रामायण, 3।33।8
94. या नापश्यच्चन्द्रमा नैव सूर्यो: रामा: कश्चिदा: स तस्मिन् नरेन्द्रे।
 महावन गच्छति कौरवेन्द्रे शोकेनार्ता राजमार्गं प्रपेदु॥ —महाभारत, 15।16।13
95 पद्मावती-अन्यो परपुरुषदर्शनं परिहरत्यार्या, —स्वप्नवासवदत्त'अक 1
96. रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः।
 अस्याच्छमम: प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्रावरण बभूवः। —रघुवंश, 13।8
97. व्यसनेषु च कृच्छ्रेषु नो युद्धे नो स्वयंवरे।
 न क्रतौ न विवाहे च दर्शनं दुष्यति स्त्रिय:॥—रामायण, 6।116।8
98. निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च। प्रतिमा नाटक, अंक 1
99. जलस्थगामिन्य पुराण्गनाभिर्वनानि यत्र समलंकृतानि।
 —कार्पस इंसक्रिप्शनम् इण्डिकेरम भाग-3, पृष्ठ 81

षष्ठ अध्याय

हरिवंश पुराण कालीन राजनीतिक जीवन

प्रशासन व्यवस्था

हरिवंशपुराण में चाणक्य के अर्थशास्त्र, धर्मसूत्रों और स्मृतियों की भांति शासन व्यवस्था सम्बन्धी विधि-विधानों का व्यवस्थित उल्लेख नहीं मिलता है। जो कुछ संक्षिप्त उल्लेख यहाँ उपलब्ध है वह केवल कहानियों के रूप में ही है, और ये कथा कहानियां साधारणतया तत्कालीन सामान्य जीवन का चित्रण करती हैं, ऐसी हालत में पुराण में इधर-उधर बिखरी हुई सूचनाओं के आधार पर ही तत्कालीन शासन-व्यवस्था का चित्र उपस्थित किया जा सकता है।

राजा और राजपद

दीप्त्यर्थक राज् धातु में कनिन् प्रत्यय के योग से राजन् शब्द की निष्पत्ति होती है और इसका शाब्दिक अर्थ दीप्यमान, प्रकाशमान अथवा प्रतापवान होता है। वेनपुत्र पृथु के प्रसंग में कहा गया है कि प्रजा को अनुरंजित करने के कारण उसका नाम राजा हुआ है।[1]

जायसवाल का कथन है कि 'राजन्' शब्द और उसके मूल रूप 'राट्' का शब्दार्थ 'शासक' है। लैटिन भाषा के रेक्स (REX) शब्द के साथ इसका सम्बन्ध है। वे कहते हैं कि शासक को राजा इसलिए कहते हैं कि उसका कर्त्तव्य अच्छे शासन के द्वारा अपनी प्रजाओं का रंजन करना अथवा उन्हें प्रसन्न रखना है। संस्कृत साहित्य में भी यह तथ्य एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में माना गया है। कलिंग के सम्राट खारवेल ने अपने शिलालेख (ई० पूर्व 165) में कहा है कि मैं अपनी प्रजा का रंजन करता हूँ, इसकी संख्या 35 लाख है। पाली ग्रन्थों से भी इस शब्द की यही व्याख्या उपलब्ध होती है, यथा-दम्मेन परे रजेतीति खो वा सेट्ठ राजा। अतः राजा की इस व्याख्या को शासन सम्बन्धी राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय सिद्धान्त कहा जा सकता है।[3]

---

1. विष्णुपुराण, 1।13-48,93
2. हिन्दू राज्य तन्त्र, खण्ड 2, काशीप्रसाद जायसवाल, पृष्ठ 1–2
3. हरिवंशपुराण द्वितीय सर्ग

हरिवंशपुराण में राजा के लिए भूप, नराधीश, अभिनायक, राजन्, महाराज, क्षितिश्वर, क्षितिभृत्, नृप, नरेश्वर, अधिपति, प्रजापति, इत्यादि पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

विदेह के राजा सिद्धार्थ के वर्णन में राजा के अन्य आदर्श गुणों का सम्यक प्रतिबिम्ब मिलता है। यह एक प्रभावशाली राजा था। वह अत्यन्त विशुद्ध, चिरकालीन राजवंश में प्रसूत, राजलक्षणों से युक्त, बहुजन सम्मानित, सर्वगुण समृद्ध, राज्याभिषिक्त और दयालु था। वह सीमा का प्रतिष्ठाता, क्षेमकारक और जनपद का दानमानादि से लोगों को सम्मानित करता था तथा धन, धान्य, सुवर्ण, भवन, शयन आसन, यान, वाहन, दास, दासी, गाय, भैंस, माल खजाना, कोठार और शास्त्रागार से सम्पन्न था।[3]

युवराज और उत्तराधिकार

राजा का पद साधारणतया वंश परम्परागत माना गया है। यदि राजपुत्र अपने पिता का इकलौता पुत्र होता था, तो राजा की मृत्यु के पश्चात् राजसिंहासन का अधिकारी होता था। लेकिन यदि उसके सगा या सौतेला भाई होता था तो उनमे परस्पर ईर्ष्या-द्वेष होने लगता और राजा की मृत्यु के पश्चात् यह द्वेष भातृघातक युद्धों मे परिणत हो जाता था। साधारणत: यदि कोई अनहोनी घटना न घटती होती तो पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ राजपुत्र ही राजपद को शोभित करता था और छोटे भाई को युवराज पद मिलता था।[4]

जैन पुराणों एवं आगम मे सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकार के राजा बताये गये है। सापेक्ष राजा अपने जीवन काल में ही अपने पुत्र को युवराज पद दे देता था जिससे राज्य के महायुद्ध आदि संकटों से रक्षा हो जाती थी। निरपेक्ष राजा के सम्बन्ध मे यह बात नहीं थी, उसकी मृत्यु के बाद ही उसके पुत्र को राजा बनाया जाता था।[5]

कभी राजा की मृत्यु हो जाने पर यदि कोई उत्तराधिकारी जैन दीक्षा ग्रहण कर लेता तो इस हालत मे उसके छोटे भाई को राजा के पद पर बैठाया जाता था। यदि कोई राजपुत्र इस प्रकार दीक्षित हुआ संयम धारण करने में अपने आपको असमर्थ पाकर दीक्षा त्यागकर वापिस लौट आता था तो उसका छोटा भाई उसे राज्य लौटा देता था और स्वयं उसका स्थान ग्रहण करता। साकेत नगरी मे कुंडरीक और पुण्डरीक नामक दो राजकुमार रहा करते थे। कुण्डरीक बड़ा और पुण्डरीक छोटा

4. हरिवंशपुराण, 27/54, 21/122
5. अभिषेक होने की पूर्व अवस्था को यौवराज्य कहा है—
दोच्च जुवराया जाभिसिच्चति ताव जुवरज्जं भण्णति,
—निशीथचूर्णी, 11/3363 की चूर्णी

था। कुण्डरीक ने श्रमण दीक्षा धारण कर ली, लेकिन कुछ समय बाद संयम पालने में असमर्थ हो दीक्षा छोड़ वापिस लौट आया। यह देखकर उसका छोटा भाई उसे अपने पद पर बैठा, स्वयं श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया।[6]

यदि राजा और युवराज दोनों ही राजपाट छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर लेते थे तो अन्य कोई राजाधिकारी सन्तान न होने पर तथा राजा के पुत्र हीन होने की दशा मे पुत्री के पुत्र को राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाता था।[7]

राज्याभिषेक

उपर्युक्त नियमों के अनुसार राजा का चयन होने के पश्चात् राजा के राज्याभिषेक का आयोजन किया जाता था।[8] जिनसेन ने शृंगार और अभिषेक की क्रियाओं का कोई विवरण नहीं दिया है, फिर भी इनका विस्तार अन्य जैन ग्रन्थों में इस प्रकार मिलता है—

अभिषेक समारोह बहुत धूमधाम से किया जाता था। जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में भरत चक्रवर्ती के अभिषेक का विस्तृत वर्णन किया गया है। अनेक राजा महाराजा, सेनापति, पुरोहित, अठारह श्रेणी प्रश्रेणी और वणिक आदि से परिवृत जब भरत ने अभिषेक भवन में प्रवेश किया तो सबने सुगन्धित जल से उनका अभिषेक किया और जय-जयकार की घोषणा सर्वत्र सुनायी देने लगी। उपस्थित जन समूह की ओर से उन्हें राजमुकुट पहनाया गया, रोयेंदार, कोमल और सुगंधित तौलियों से उनका शरीर पोंछा गया, मालाएं पहनायी गयीं और विविध आभूषणों से उन्हें सजाया गया। इस मंगल अवसर पर नागरिकों का कर माफ कर दिया गया और बड़ी धूमधाम से बहुत दिनों तक नगर में उत्सव मनाया जाता रहा।[9] राजा भरत को मूर्धाभिषिक्त कहा गया है।[10] सनत्कुमार चक्रवर्ती के राज्याभिषेक के अवसर पर उन्हें हार, वनमाल, छत्र, मुकुट, चामर युग्म दूष्ययुग्म, कुण्डलयुगम, सिंहासन पादकायुग्म पादपीठ भेंट किये गये।[11] ज्ञात धर्म कथा मे मेघकुमार के अभिषेक का सरस वर्णन है। मेघकुमार ने संसार से वैराग्य धारण कर दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया था, लेकिन अपने माता-पिता की आज्ञा से केवल एक दिन के लिए राज सम्पदा का उपभोग करने के लिए राजी हुए। अनेक गणनायक, दण्डनायक आदि से परिवृत हो, उन्हें सोने, चांदी मणि मुक्ता आदि के आठ सौ कलशों के सुगन्धित जल से स्नान कराया

6. ज्ञात धर्म कथा, 19
7. हरिवंशपुराण, 27।47-60
8. वही, 13।1-2
9. (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, 3।68, पृष्ठ 267-अ 270
   (ख) आवश्यक चूर्णी, पृष्ठ 205
10. निशीथभाष्य, 9।2498
11. उत्तराध्ययन टीका—8, पृष्ठ 240

गया। मृत्तिका पुष्प, गन्ध, माल्य, औषधि और सरसों आदि उनके मस्तक पर फेंकी गयी तथा दुंदुभी बाजों और जय-जयकार का घोष सुनाई देने लगा।[12] राज्याभिषेक होजाने पर समस्त प्रजा राजा को बधाई देने आती तथा साधु-संत दर्शन के लिए उपस्थित होते थे।[13]

सैन्यव्यवस्था—सैनिक प्रशासन का स्वरूप तथा उसके संगठन का सैद्धान्तिक विवरण नहीं है, परन्तु विभिन्न वर्णनों से तत्कालीन सैनिक व्यवस्था का परिचय अवश्य मिलता है।

सेना संगठन—पुराण में सात प्रकार की सेना बताई गई है।[14] हाथी, घोड़ा, रथ पैदल, सैनिक, बैल गन्धर्व और नर्तकी। घोड़े, हाथी, पैदल सैनिक तथा रथों की गणना से युक्त अक्षौहिणी सेना में नौ हजार हाथी, नौ लाख हाथी, नौ करोड़ और नौ सौ करोड़ पैदल सैनिक होते थे।[15]

युद्ध के प्रकार

हरिवंशपुराण में रथ युद्ध, पदाति युद्ध, मल्लयुद्ध, हस्तियुद्ध प्रभृति विविध प्रकार के उदाहरण दृष्टिगत होते हैं।

उपर्युक्त विविध प्रकार के युद्धों के परिचय प्राप्त करने से पूर्व धर्मयुद्ध अथवा यथायोग्य रीति से युद्ध को समझना उचित होगा। धर्मयुद्ध या यथायोग्य युद्ध में हाथी हाथी के, घोड़ा घोड़ा के, रथ रथ के और पैदल सैनिक पैदल सैनिकों के सामने आकर रणक्षेत्र मे युद्ध करते हैं।[16] इसका मूल समान बल और साधन वालों में परस्पर युद्ध का सिद्धान्त रहा होगा। विषम बल और विषम साधन वालों मे युद्ध भी विषम और विरस बन जाता था।

पुराणकार ने एक स्थल पर वसुदेव के साथ अनेकों योद्धाओ के युद्ध को अन्याय-पूर्ण युद्ध माना है।[17] इस अन्यायपूर्ण युद्ध को देखकर जरासन्ध ने इसकी आलोचना की और कहा कि एक का एक के साथ युद्ध ही धर्मयुद्ध होता है।

रथयुद्ध

युद्ध में रथों का भी प्रयोग होता था। वसुदेव स्वर्णनाभ, शल्य, शिशुपाल, रुक्मी और कृष्ण आदिने रथों पर बैठकर युद्ध किया था।

12. ज्ञातधर्म कथा 1, पृष्ठ 28 इत्यादि तथा महाभारत (शान्ति पर्व 39)
    रामायण (2, 3, 6, 14. 15 इत्यादि) अयोधर जातक (पृष्ठ 510)
13. उत्तराध्ययन टीका, 18 पृष्ठ 241-अ
14. हरिवंशपुराण, 2/28, 8/133
15. वही, 55/75
16. वही, 3/174
17. वही, 3/192

कीथ के मत से एक रथ में सन्नद्ध अश्वों की संख्या सामान्यतः दो ही होती थी, किन्तु कभी कभी तीन व चार अश्वों का भी प्रयोग किया जाता था। ऐसी दशा में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इन अतिरिक्त दो अश्व पूर्व सन्नद्ध अश्वों के आगे लगाये जाते थे अथवा उनके दोनों पार्श्वों में, सम्भव है कि दोनों ही पद्धतियां प्रचलित रही हों। रथों में सामान्यतः अश्वों का ही प्रयोग होता था किन्तु कभी कभी गर्दभ अथवा अश्वतरी का भी प्रयोग किया जाता था।[18]

पुराण में एक जगह सिंहो को भी रथ में जोड़कर युद्ध क्षेत्र में जाने का उल्लेख आया है। राजा सिंहरथ सिंहो के रथ में बैठकर युद्ध के लिए वसुदेव के सामने गये।[19] परन्तु यह प्रयोग अपवाद रूप और साधारण व्यवहार की कोटि से बाह्य ही रहा होगा।

पदाति युद्ध

हरिवंशपुराण में पदाति-युद्ध के भी कुछ प्रसग मिलते है। चतुरंग सेना में पदाति सेना अनिवार्य अग है। रुक्मी की सेना मे कृष्ण से युद्ध करने के लिए हस्ती अश्व और रथ के अतिरिक्त पदाति भी थे।[20] राजा जरासन्ध की सेना मे चक्रव्यूह के एक-एक चक्र मे सोलह-सोलह हजार पैदल सैनिक थे।[21] ये पैदल सैनिक खड्ग, चक्र, धनुष हाथ मे लेकर युद्ध करते थे।[22]

मल्ल युद्ध

मल्लयुद्ध बाहुयुद्ध, मुष्टि युद्ध, द्वन्द्वयुद्ध- ये चारो शब्द परस्पर एक दूसरे के पर्याय है। अति प्राचीन काल से इस कला का अभ्यास भारत मे होता आ रहा है। आज भी विश्व के मल्लयोद्धाओं मे भारतीय मल्लयोद्धाओ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजाओं के यहां मल्लों की नियुक्ति होती थी। पुराणकार ने रोमांचकारी विभिन्न प्रकार के मल्लयुद्धों का वर्णन किया है जो हाथियों को भी पछाड़ने मे संकोच नहीं करते थे। बलभद्र ने हस्तिमल्लो से युद्ध मे उन दो हाथियो को पछाड़ कर निष्प्राण कर दिया था।[23] वसुदेव ने मल्ल युद्ध मे (मुष्टिप्रहार से) राक्षस सौदास को मारकर निष्प्राण कर दिया।[24] बाहुबली और भरत मे भी मल्लयुद्ध हुआ था।[25] जिस

18. वैदिक इन्डेक्स, 2।225-226
19. हरिवंशपुराण, 33।9
20. वही, 42।80
21. वही, 50।103-104
22. वही, 42।81
23. वही, 36।32-34
24. वही, 24।8
25. वही, 11।84

समय कृष्ण और चाणूर में बाहु युद्ध चल रहा था उसी समय मुष्टिक और बलभद्र का भी रोमांचकारी द्वन्द्व-युद्ध चल रहा था। कृष्ण ने चाणूर मल्ल को अपने वक्षःस्थल से लगाकर भुजयन्त्र के द्वारा इतने जोर से दबाया कि उससे अत्यधिक रुधिर की धारा बहने लगी और वह निष्प्राण हो गया और बलभद्र ने मुष्टिक के मस्तक पर मुष्टिक प्रहार कर उसे प्राणरहित कर दिया।[26] जब कंस ने अपने दोनों बलवान मल्लों को मारे जाते हुए देखा तो वह तलवार लेकर कृष्ण की ओर आया। कृष्ण ने सामने आते हुए शत्रु के हाथ से तलवार छीन ली और मजबूती से उसके बाल पकड़कर उसे क्रोधवश पृथ्वी पर पटक कर मार डाला।[27]

दृष्टियुद्ध

भरत और बाहुबली दोनों राजाओं के मन्त्रियों ने परस्पर सलाहकर कहा कि देशवासियों का क्षय न हो इसलिए दोनों ही राजाओं में धर्म युद्ध हो। भरत और बाहुबली ने मंत्रियों की यह बात मानकर सर्वप्रथम दृष्टियुद्ध शुरू किया। दृष्टियुद्ध में परस्पर एक दूसरे की तरफ टिमकार रहित नेत्रों से देखना पड़ता है। जो टिमकार कर देता है वह हार जाता है, दोनों भाई चिरकाल तक टिमकार रहित नेत्रों खड़े रहे अन्त में छोटे भाई भरत ने बड़े भाई बाहुबली को हरा दिया।[28]

जलयुद्ध

उस समय आजकल के भीषण जलयुद्धों की तरह जलयुद्ध नहीं होते थे। इसीलिए वहां न पोतों का उल्लेख है न तदर्थ अस्त्र-शस्त्रों का। उस स [illegible] युद्ध बहुत अविकसित रूप में था। भरत और बाहुबली का तालाब में जलयुद्ध हुआ। उसमें दोनों ही भाइयों ने एक दूसरे पर अपनी भुजाओं से लहरें उछाल-उछाल कर दुःसह आघात किया।[29] इससे ज्ञात होता है कि उस काल में जल युद्ध में पानी उछाल-उछाल कर प्रतिद्वन्द्वि को जलाक्रान्त कर हराया या नष्ट किया जाता था। जल केवल हाथों से ही उछाला जाता था अथवा और भी कोई विधि थी, यह निश्चय से ज्ञात नहीं। जिनसेन ने प्रथम विधि का ही वर्णन किया है।

स्त्री और युद्ध

स्त्रियों के साथ पुरुषों का युद्ध निषिद्ध और हीन माना जाता था। युद्ध में स्त्री की मृत्यु भी सम्भव थी। स्त्री को मारना पाप था। इसलिए श्यामा के साथ युद्ध प्रसंग पर अंगारक इसी आधार पर श्यामा को युद्ध से विरत हो सामने से हट जाने के लिए कहता है।[30]

26. वही, 36।41–43
27. वही, 36।45
28. वही, 11।80–82
29. वही, 11।83
30. वही, 19।105

परिचायक ध्वजादि

समुदाय, सैन्य, राष्ट्र तथा धर्म पर ध्वजा-पताका आदि का... इतना अधिक प्रचलन था कि योद्धाओं और महापुरुषों की पहिचान इन्हीं के द्वारा होती थी।

ऋग्वेद के युग में ही ध्वजा पताका का प्रयोग इतना व्यापक हो चुका था कि यह रूपक और विशेषण के रूप में व्यवहृत होने लगा था। अग्नि के लिए धूमकेतु शब्द प्रचलित हो चुका था।[31]

महाकाव्य युग में ध्वजा-पताकाओं का पूरा विवरण दृष्टिगत होता है। इस काल में भिन्न भिन्न आकार, रंग तथा योजना की ध्वजाएं व्यवहृत होती थी।

(क) धनुर्धर अर्जुन की ध्वजा पर वानर (हनुमान) का चित्र खचित था और सिंह का पूंछ भी उसमें चित्रित रहता था।

(ख) द्रोणपुत्र अश्वत्थामा की ध्वजा में सिंह की पूंछ का चिन्ह था।

हरिवंश पुराण में भी अनेकों ध्वजाधारी पुरुषों के प्रसंग मिलते हैं। कृष्ण के रथ पर गरुड़ की ध्वजा फहराती थी।[32] अरिष्टनेमि की पताका पर बैल का चिन्ह,[33] बलदेव की ध्वजा पर ताल का चिन्ह,[34] सेनापति की ध्वजा पर वानर का चिन्ह,[35] अर्जुन की ध्वजा पर हाथी का चिन्ह,[36] भोज की ध्वजा पर सिंहों का चिन्ह,[37] जरत्कुमार की ध्वजा पर हरिण का चिन्ह,[38] मरु राजा की ध्वजा पर मत्स्य का चिन्ह,[39] समुद्रविजय की ध्वजा पर सिंह के चिन्ह से युक्त ध्वजाएं फहरा रही थीं।

व्यूहों के प्रकार

स्मृतिकार ने छः प्रकारों का व्यूह निर्धारित किया है। यथा— 1. दण्डव्यूह, 2. शकटव्यूह, 3. वराह व्यूह, 4 मकर व्यूह, 5. सूची व्यूह, 6. गरुड़ व्यूह,।[40] किन्तु पुराण में इनमे से कतिपय व्यूहों का ही संक्षिप्त वर्णन मिलता है।

31. स नो महा अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः धिये वाजाय हिन्वतु ॥—ऋग्वेद, 1.27.11
32. हरिवंशपुराण, 52.5
33. वही, 52.6
34. वही, 52.7
35. वही, 52.9
36. वही, 52.10
37. वही, 52.15
38. वही, 52.17
39 वही, 52.18
40. मनु स्मृति, 7.187

चेतनाचेतनद्रव्यसन्निवेशाविशेषकृत् ।
बलः संयोजनासत्वं क्रौंचव्यूहादिगोचरम् ॥

सेनाएं चेतन-अचेतन पदार्थों के समूह से बनती हैं। जहाँ अचेतन पदार्थों की विवक्षा न कर सेना को क्रौंचाकार में रखा जाता था वह क्रौंचव्यूह चेतन पदार्थों की विवक्षा न कर केवल चक्र के आकार में रची हुई सेना को चक्रव्यूह कहते हैं।[41] चक्रव्यूह की रचना का यहाँ विस्तृत वर्णन मिलता है।

जरासन्ध की सेना में कुशल राजाओं ने शत्रुओं को जीतने के लिए चक्रव्यूह की रचना की। उस चक्रव्यूह मे जो चक्राकार रचना की गई थी उसमें एक हजार आरे थे, एक एक आरे मे एक एक राजा स्थित था, एक एक राजा के सौ
थे, दो दो हजार रथ थे, पाँच पाँच हजार घोड़े थे और सोलह हजार पैदल
थे। चक्र की धारा के पास छः हजार राजा स्थित थे और उन राजाओं
आदि का परिमाण पूर्वोक्त परिमाण से चौथाई था। कर्ण आदि पाँच हजार राजाओं से सुशोभित राजा जरासन्ध स्वय उस चक्र के मध्यभाग मे जाकर स्थित था। गान्धार और सिन्ध देश की सेना, दुर्योधन के साथ सौ कौरव और मध्यदेश के राजा भी उसी चक्र के मध्य भाग मे स्थित थे। कुल के मान को धारण करने वाले धीर, वीर पराक्रमी पचास राजा अपनी-अपनी सेना के साथ चक्रधारा की सन्धियों पर अवस्थित थे। आरो के बीच-बीच के स्थान अपनी-अपनी विशिष्ट सेनाओं से युक्त राजाओ से सहित थे।[42]

गरुड व्यूह

चक्रव्यूह की रचना को विफल करने के लिए गरुड़व्यूह की रचना की जाती थी। वासुदेव ने जरासन्ध की उपर्युक्त चक्रव्यूह की रचना के वैफल्य के लिए गरुड़-व्यूह की रचना की। इस रण मे शूर वीर तथा नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्रों को धारण करने वाले पचास लाख यादव कुमार उस गरुड़ के मुख पर खड़े किये गये। धीर वीर एवं स्थिरता से पर्वत को जीतने वाले अतिरथ बलदेव और श्रीकृष्ण उसके मस्तक पर स्थित हुए। वसुदेव के पन्द्रह पुत्र बलदेव और श्रीकृष्ण की रक्षा के लिए स्थित हुए। एक करोड़ रथों के साथ भोज, गरुड़ के पृष्ठ भाग पर स्थित हुआ। राजा भोज की पृष्ठ रक्षा के लिए अनेक राजा नियुक्त किये गये। अपने महारथी पुत्रों तथा

41. हरिवंशपुराण, 10।103
42. वही, 50।102–110

बहुत बड़ी सेना से युक्त राजा समुद्रविजय उस गरुड़ के दाहिने पंख पर स्थित हुए और उनको दोनों पार्श्वों की रक्षा के लिए सैकड़ों राजा पच्चीस लाख रथों के साथ स्थित हुए। बलदेव के पुत्र और पाण्डव गरुड़ के बाएं पक्ष का आश्रय ले खड़े हुए, इनके पीछे सैकड़ों बलशाली राजा उस गरुड़ चक्र की रक्षा करते हुए स्थित थे।[43]

प्रयोग में लाये जाने वाले शस्त्रास्त्र

शस्त्र और अस्त्रादि के पौराणिक विवेचन के पूर्व इनकी शाब्दिक व्युत्पत्ति का वर्णन करना औचित्यपूर्ण है। भ्वादि गणीय हिंसार्थक शस् धातु के आगे 'ष्ट्रन्' प्रत्यय के योग से शस्त्र शब्द निष्पन्न होता है और दिवादिगणीय क्षेपणार्थक अस् धातु के आगे ष्ट्रन् प्रत्यय के योग से अस्त्र शब्द की निष्पत्ति होती है। शस्त्रवर्ग में मुष्टि, खड्ग और परशु आदि आते है और अस्त्र वर्ग में धनुष-बाण लोष्ट और और कृत्या आदि ध्वंसकारी दिव्य आयुध। हरिवंशपुराण में अनेक प्रकार के आयुधों के प्रयोग का वर्णन है।

युद्ध में अनेक अस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। इनमें असि, उलुखल,कवच, धनुष-बाण, कौमुद की गदा, खंग, खुर, गदा, गाण्डीव, चक्र, चरण, जानु, तल, तुण्ड तोमर, त्रिशुल, तरकश, दंष्ट्रा, दण्ड, दशन, नखांकुर, नागपाश, परशु, परिघ, पाश, बाण, भास्करशस्त्र, महास्तम्भ, माहेश्वर, माहेन्द्रास्त्र, मुष्टि, मुसल, यस्टि, लांगल लोष्ट, वज्र, विषाण , शंख, शक्ति, शरसंध, शांग, शूल, शृंग, सीर हल और नाराच आदि मुख्य है।

कवच

कायत्राण, योद्धालोग विपक्षी के प्रहार से बचने के लिए कवच को धारण करते थे।

बाणो मे नागबाण, तामसबाण, भास्करबाण, पद्मबाण, वह्निबाण महा-पुरुषबाण और महारुधिर बाण आदि मुख्य हैं। नागबाण को जब धनुष पर चढ़ाकर छोड़ा जाता था तो वह जलती हुई उल्का के दण्डरूप में शत्रु के शरीर में प्रवेश कर नाग बनकर उसे चारों ओर से लपेट लेता था। तामस बाण छोड़ने पर रणभूमि में अन्धकार ही अन्धकार फैल जाता था। जिसको निवारण भास्करशस्त्र से सब जगह प्रकाश फैला कर किया जाता था।

43. वही, 50.113-129

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि हरिवंश पुराण के काल में भारतीय समाज युद्धकला एवं युद्धविज्ञान में पर्याप्त उन्नत और विकसित था। स्वार्थ सिद्धि के लिए देव, असुर, मानव और पशु सबका एक मात्र परम साधन युद्ध ही था। मनुष्य और पशुओं के मध्य पारस्परिक मल्ल आदि युद्ध के अनेक उदाहरण मिलते हैं। रथ और पदाति आदि भेदों से युद्ध के अनेक प्रकार दृष्टिगत होते हैं। व्यावहारिक युद्ध क्षेत्र में अवतीर्ण होते स्त्री, वैश्य और शूद्र का कोई प्रसंग उपलब्ध नहीं। अस्त्र शस्त्र अनेक प्रकार के थे। कतिपय शास्त्रास्त्रों में अद्भुत चमत्कृतिपूर्ण अलौकिक शक्ति प्रदर्शित की गई है।

सप्तम अध्याय

हरिवंश पुराण कालीन आर्थिक जीवन

आर्थिक दृष्टि से पुराणकालीन भारतवर्ष सम्पन्न था। कृषि, पशुपालन, व्यापार वाणिज्य, कला-कौशल मे भी यह देश प्रचुर प्रगति कर चुका था।

कृषि

पुराण में कथन है कि जब प्रजा अपनी जीविका के लिए भगवान ऋषभदेव के पास गयी तब ऋषभदेव ने प्रजा के एक वर्ग को कृषि कर्म के लिए कहा फिर उन्होंने कृषि करके अपनी आजीविका का कार्य किया।

पुराण में कृषि से उत्पादित अन्नों में जौ (यव), गेहूं (गोधूम), छोटे धान्य (अणव), तिल, ज्वार (उदार) उड़द (माष्) मूंग (मुडग), मसूर, चना (चणक) और सन (शण) प्रमुख हैं।

पशुपालन

कृषि कर्म के अतिरिक्त तत्कालीन समय का प्रमुख उद्योग पशुपालन ही था। दूध उनके भोजन का प्रमुख अंग था[1]

तत्कालीन पालतु पशुओं में गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी, बकरे आदि प्रमुख रूप से थे। गाय और भैंस दूध के काम में लायी जाती थी।[2] तथा बैल खेती एवं वाहन के काम आते थे।[3] तथा अन्य पशु भी वाहन के प्रयोग में लिए आते थे।

वाणिज्य

कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त व्यापार का भी आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस काल में व्यापारी अपने सामान को व्यापार हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान लाते एवं ले जाते थे।

1. हरिवंशपुराण, 33।27–28
2. वही, 9।30
3. वही, 22।6

पुराण में [illegible] के लिए [illegible][4] और [illegible] के लिए [illegible][5] शब्द प्रयुक्त हुए हैं। विनिमय के लिए क्रय[6] शब्द प्रयुक्त हुआ है।

उक्त सभी शब्द तत्कालीन व्यापार के प्रगति के द्योतक हैं।

क्रय-विक्रय के माध्यम

पुराण में वस्तुओं के क्रय-विक्रय करने का वर्णन तो आया है परन्तु इसका माध्यम क्या था ? इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। हां एक स्थल पर चारुदत्त नामक एक वणिक अपनी स्त्री एवं माता के आभूषणों को लेकर व्यापार के लिए जाता है तथा वह कपास खरीदता है। इससे यह अवगत होता है कि उस समय स्वर्णाभूषण भी क्रय-विक्रय का माध्यम रहा होगा।[7]

यातायात के साधन

पुराण में आगत वर्णनों से अवगत होता है कि इस काल में व्यापार थल एवं जल दोनों मार्गों से होता था। चारुदत्त कपास खरीदकर बेचने के लिए अन्य स्थान पर जा रहा था तब रास्ते में दावानल अग्नि से कपास के जल जाने का वर्णन हुआ है।[8] चारुदत्त की व्यापार यात्रा में जहाज के छह बार फटने का उल्लेख है।[9] व्यापार कपासादि वस्तुओं के अलावा अन्य बहुमूल्य रत्नों के होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[10]

खानपान

अपने देश की आर्थिक अवस्था के अनुकूल ही साधारणतः प्रजावर्ग के खान-पान का स्तर होता है। पुराण में निम्नलिखित भोज्यवस्तुओं का विवरण मिलता है— [illegible] भात (कोलाना-ओदनः) मूंग की दाल (मुद्गानां सूप) घी (हैयंगवीनम्) [illegible] का दूध (गोदुग्धं पयः)[11] शालि, व्रीहि[12] तेल, शाक, खीर, दही[13] इत्यादि। इनमें से पुराणकार ने पूर्वदेश के धान, शुभ्र एवं सुगन्धित भात, पांचाल देश की मूंग की

4. वही, 27।24
5. वही, 21।75
6. वही, 21।76, 50 1
7. वही, 21।75
8. वही, 21।76
9. वही, 21।79
10. वही, 50।1
11. वही, 18।161–
12. वही, 11।116
13. वही, 36।27–28

पकी दाल, पश्चिम देश की गायों के तपाये हुए घी, कलिंग देश की गायों के दूध की विशेष प्रशंसा की है।[14]

मांस

जिनसेन के काल में धान्यान्न के समान ही मांस भोजन का भी समाज में प्रचलन रहा प्रतीत होता है। अतिथि के सत्कार में मांस खिलाने की प्रथा थी[15] क्योंकि नेमिनाथ के विवाह में जो मांस भोजी राजा आये थे उनके लिए नाना प्रकार के मांसों को पकाने के लिए पशुओं का निरोध किया गया था।[16]

नरमांस—हरिवंशपुराण में नरमांस का भी एक विवरण है, किन्तु प्रसंग से अवगत होता है कि समाज में नरमांस को अतिशय निन्दनीय समझा जाता था। एक वर्णन के अनुसार राजा सौदास पहले मोर का मांस खाता था फिर अपने रसोइए की भूल से नरमांस भक्षी बन गया।[17]

बकरे का मांस—सम्भवतः बकरे के मांस की गठरीयां जगह-जगह मिलती होंगी, क्योंकि चारुदत्त और रुद्रदत्त का व्यापार-यात्रा के प्रसंग में बकरों की भस्त्रा बनाने का वर्णन आया है।[18] जिन भस्त्राओं को भारुण्ड पक्षी ने मांस के लोभ से उठा लिया। यह इंगित करता है कि बकरे का मांस प्रचुर मात्रा में बनता, बिकता और खाया जाता रहा होगा।

मांस भक्षण की परम्परा बहुत प्राचीन है। वैदिक ग्रंथों में मांस भोजन नियमित ही प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए सांसारिक मांसापर्ण के पीछे यही मान्यता है कि देवगण उसे खायेंगे और ब्राह्मण लोग देवों की समर्पित वस्तुएं खाते ही थे। आतिथ्य सत्कार के लिए महोक्ष (महान बैल) अथवा महाज (महान बकरे) के वध का नियमित विधान है। विवाह संस्कार के समय बैलों का, स्पष्टतः खाने के लिए ही वध किया जाता था। यदाकदा व्रतादि के अवसर पर यह वर्जित भी था।[19]

अथर्ववेद में अतिथि के सत्कार में मांस खिलाने का उल्लेख मिलता है।[20] अतः कुछ लोगों के भोजन में मांस का भी स्थान रहा होगा। उत्तर-रामचरित में

14. वही, 18:161–163
15. वही, 55:87
16. वही, 55:87
17. वही, 24:3–24
18. वही, 21:104–110
19. वैदिक इण्डेक्स, 2:161–164
20. स यःएवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति। —अथर्ववेद, 9:6:41

भवभूति ने लिखा है कि गृह्य सूत्रों के अनुसार अतिथि को 'समांस मधुपर्क दिया जाय' (समांसमधुपर्कोदिव:) इसलिए राजर्षि जनक आदि के आश्रम में आने पर वाल्मीकि के आश्रम में वत्सतरी को मारकर उसका मांस पकाया गया था।

जिनसेन का युग भवभूति के आस-पास का ही है अत: उस काल में राजाओं की भोजन सामग्री में मांस का अंश रहना स्वाभाविक था।

मांस की भोज्य सामग्री के रूप में प्रतिष्ठित होने पर भी कुछ लोग इसे प्रशस्त नहीं मानते थे।

विषय सौख्यफल..................................पीडनमव्यधि । 55।93

जैन तीर्थंकरों के मत मे प्राणीवध पाप है और मनुष्य मांस भक्षी व पशु हिंसक जन को उत्तरोत्तर दुःख कार्यों का विघात सहना पड़ता है।

प्रकृति देश....... ....अवबुद्धतः । 55।95

इससे कोई सुख प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत कड़वा फल मिलता है। चार प्रकार के बन्धों के कारणों से दुर्गति होती है।

भोजन विधि

उस काल में योगी खड़े होकर दोनों हाथों द्वारा अंजलि बांधकर, भोजन ग्रहण करते थे।[21] तथा जनसामान्य स्नानादि करने के उपरांत, फर्श पर बैठकर दिव्य आहार (सम्भवत: दिव्य शब्द पूर्ण शाकाहारी के लिए प्रयुक्त किया गया है) थालियों में सजाकर खाते थे।[22]

दिव्य आहार का पुराण में कोई विवरण नहीं दिया गया है। एक स्थल पर दाल, भात, घी, दूध और दही के भोजन का वर्णन आया है। साथ ही जैन आदर्श पूर्ण अहिंसा का पोषक है। अत: पूर्ण शाकाहारी निरामिष भोजन को दिव्य भोजन मानना समीचीन प्रतीत होता है। सामान्यजन के लिए ऐसे भोजन के विधान के मूल में लौकिक सामग्री के यथोचित भोग की भावना रही हो सकती है।

भोजन जीमने के बाद अत्यन्त कोमल और सुगन्धित चन्दनादि द्रव्यों के चूर्ण से कुल्ला किया जाता था, फिर पान खाया जाता था, पान में कटी हुई हरी सुपारी इलाइची आदि विशेष रूप से प्रयोग में लाई जाती थी।[23]

मदिरा-पान

हरिवंशपुराण में मदिरा के लिए मद्य,[24] वारुणी,[25] कादम्बरी[26] आदि

21. हरिवंशपुराण-पूर्व में निर्दिष्ट मुनि द्वार निर्वचनान्तर्गत देखिये
22. हरिवंशपुराण, 9।167–168
23. वही, 36।27–28
24. वही, 61।23
25. वही, 61।51
26. वही, 61।36

शब्दों का प्रयोग हुआ है। मदिरा पिष्ट और किण्व आदि पदार्थों के योग से बनाई जाती थी।[27] मदिरा को पीकर व्यक्ति नशे में झूमने लगता था, असम्बद्ध गाने लगता था। उसके केश तथा आभूषण अस्त-व्यस्त हो जाते थे।[28]

मनोरंजन के साधन

यद्यपि मनोरंजन के सम्बन्ध में बहुत ही अल्प सामग्री प्राप्त होती है, तथापि इससे उस काल के मनो-विनोदों का कुछ संकेत अवश्य मिल जाता है।

द्यूत-क्रीडा—द्यूत समृद्ध समुदाय का लोकप्रिय विनोद था। शम्ब जुआ खेलने में चतुर था उसने सुभानु का सारा धन जीत लिया था।[29] दुर्योधन ने युधिष्ठिर को जुए में जीता था।[30] कलिंगसेना ने रुद्रदत्त को जुआ में जीतकर उसका सारा धन, आभूषण और यहाँ तक कि उसका दुपट्टा तक भी जीत लिया था।[31]

द्यूत प्राचीनतम काल से ही समृद्धजनों का व्यसन रहता आया है। ऋग्वेद के अक्ष सूक्त में इसका मार्मिक और हृदय स्पर्शी वर्णन किया गया है। यद्यपि हारने वाले के लिए जुआ परम दुःख-दायी था तथापि जीतने की आशा से हारने वाला भू पुनः पुनः खेलता था। मानव आज भी इस व्यसन से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाया है। उनके अपने काल में इस व्यसन की अनुमेय ही है। क्योंकि पुराणकार के मत में जुआ खेलने वाले पात्र जैन प्रतीत होते हैं। इससे यह अनुमान सुव्यक्त है कि जैन समाज में भी जुआ प्रचलित था, उसको दूर करने के लक्ष्य से ही जिनसेन ने ये वर्णन प्रस्तुत किये हो सकते हैं।

जल-क्रीड़ा—जल-क्रीड़ा भी उस काल में सुप्रचलित थी। नेमिनाथ ने श्रीकृष्ण की स्त्रियों के साथ जलाशय में जल-क्रीड़ा की। कृष्ण की स्त्रियां कभी तैरने लगती थीं, तो कभी लम्बी लम्बी डुबकियां लगाती थीं, कभी हाथ में पिचकारियां ले हर्षपूर्वक परस्पर एक दूसरे के मुख कमल पर पानी उछालती थीं। वे अपने हथेली की अंजलीयों और पिचकारियों से जब नेमिनाथ के ऊपर जल उछालने लगीं तो उन्होंने भी जल्दी-जल्दी पानी उछालकर उनको विमुख कर दिया।[32] इस स्नान में सुगन्धित विलेपनों आदि का प्रयोग भी किया गया था, जिससे सर्वत्र सुगन्ध फैली और जल भी विविध रंगों वाला हो गया था। जनसाधारण भी इस जल-क्रीड़ा को देखकर रागयुक्त हो आनंद प्राप्त करते थे।

27. वही, 61135
28. वही, 61।50-52
29. वही, 48।41
30. वही, 46।3
31. वही, 21।54-62
32. वही, 55।51-55

वन-विहार—श्रीकृष्ण अपनी स्त्रियों, नेमिनाथ, राजा-महाराजा और नगर-वासियों के साथ गिरनार पर्वत पर क्रीड़ा करने की इच्छा से गये[33] उस समय कितने ही पुरुष अपनी स्त्रियों के साथ आम्र बगीचों में बड़े प्रेम से मद्यपान कर रहे थे।[34]

यह आजकल की गोठों (पिकनिकों) के समान रहा होगा। जिसमें जनसाधारण विशेष रूप से घर से दूर रम्य स्थल पर जाकर विहार करते हैं और भोजन आदि कर आनन्दित होते हैं।

> अक्षरालेख्यगन्धर्वगणितागमपूर्वकम्
> कलाकौशलमन्यास्तु प्रशंसन्ति समन्ततः
> दर्शयन्ति स्वयं काश्चित् तन्त्रीवीणादिकौशलम् ।
> गायन्ति मधुरं गेयं काश्चित्कर्णरसायनम् ॥
> शोभनाभिनयं काश्चिद् शृंगारादिरसोत्कटम् ।
> हावभावविलासिन्यो नृत्यन्ति नयनामृतम् ॥

संगीत नृत्य और वाद्यों का भी प्रचलन था। यह स्त्रियों को विशेष प्रिय थे। पुरुष भी संगीत आदि में रुचि और प्रावीण्य धारण करते थे।

> जगुः किन्नरगन्धर्वाः स्त्रीभिस्तुम्बुरुनारदाः ।
> सविश्वावसवो विश्वे चित्रं श्रोत्रमनोहरम् ॥

अर्थात् किन्नर, गन्धर्व, तुम्बुरु, नारद तथा विश्वावसु अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ कानों एवं हृदय को हरने वाले भाँति-भाँति के गीत गाते थे। उस समय देव तत, वितत, घन और सुषिर नामके चारों मनोहारी बाजे बज रहे थे।[35]

सवारी करने का शौक—विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि तथा शक्ति और स्थिति के अनुसार वाहनों पर सवारी करते थे। उस समय सवारी के काम में लाये जाने वाले साधनों में घोड़े,[36] रथ, बकरे,[37] हाथी एवं बैल,[38] सिंह[39] आदि के नाम मिलते हैं।

33. वही, 55।29
34. वही, 41।21
35. तार के बाजे वीणादि को तत कहते हैं, चमड़े के मंढे हुए तबला, मृदंग आदि वितत कहलाते हैं, झालर झांझ, मंजीरा आदि कांसे के बर्तन घन कहलाते हैं और बांस बांसुरी आदि सुषिर कहलाते हैं।
36. हरिवंशपुराण, 21।70
37. वही, 21।102-103
38. वही, 22।6
39. वही, 33।4

वेश्यागमन—वेश्यागमन भी समाज और शासन दोनों से मान्यता प्राप्त था और कुछ लोगों के लिए यह आजीविका का साधन भी था।[40] वेश्यागमन में वेश्यागामियों को धन आदि की बहुत हानि होती थी। चारुदत्त ने इस व्यसन में हजारों दीनार खर्च कर दिये थे।[41]

उपर्युक्त विवरणों से उसकाल के समाज की विलासप्रियता और अनाचार परायणता का अच्छा परिचय मिलता है। परन्तु इसका यह भाव नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति व्यसनों से ग्रस्त था। आदर्श चरित्र वाले व्यक्ति भी समाज में थे। पुराणकार का लक्ष्य उनको ही महत्त्व देने का है।

वस्त्र और आभूषण

लोगों में विभिन्न प्रकार के वस्त्र और आभूषणों का प्रचलन था। इच्छानुसार लोग अनेक रंगों के वस्त्र पहनते थे। परन्तु कुछ स्थानों पर ऐसे भी उल्लेख हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कुछ लोगों के लिए वेषभूषा निर्धारित थी, जिसे देखते ही उस व्यक्ति का बोध हो जाता था। ये वस्त्र उसके बोध के लक्षण रूप कहे जा सकते हैं।[42]

हरिवंश के वर्णनानुसार मातंग नामके विद्याधर नीले वस्त्र और नीली मालायें,[43] गान्धार जाति के विद्याधर लाल मालाएं और लाल कम्बल के वस्त्र,[44] तथा पाण्डुक नामके विद्याधर नीलमणि और पीले वस्त्र पहिनते थे।[45]

ये वर्णन केवल विद्याधरों के ही बारे में पाए जाते हैं। सामान्यजन के साथ इनका सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। यदि ऐसा हो तो लोक में जनसामान्य अपनी अभिरुचि के अनुरूप विविध प्रकार के वस्त्र धारण करते होंगे।

हिन्दूपुराण में भी बलराम नीले वस्त्र धारण करते हैं,[46] कृष्ण पीले तथा रक्त रूप में,[47] ब्रह्मा का मानसपुत्र लाल वस्त्र।[48] कुछ विशेष अवसरों पर विशेष

---

40. वही, 21।41–74
41. वही, 21।70
42. वही, 26।23
43. वही, 26।15
44. वही, 26।7
45. वही, 26।17
46. घनानमसिते... वस्त्रे।—विष्णुपुराण, 5।18–38
47. विष्णुपुराण, 5।17।21
48 वही, 3।18।15

रंग के कपड़ों का प्रचलन भी वहाँ निर्दिष्ट हुआ है। यथा शुक्लपक्ष के व्रत विशेष में ब्राह्मणों को दो पीत वस्त्र देने का विधान मत्स्य पुराण में मिलता है।[49]

उपर्युक्त वर्णनों से वस्त्रों की रंगाई की कला के व्यवसाय का भी परिचय मिलता है। वस्त्रों के रंगे जाने की सूचना उस समय के अन्य ग्रन्थों से भी मिलती है। उदाहरणार्थ महावग्ग से ज्ञात होता है कि वस्त्रों को धोकर उन्हें रंगा जाता था।[50] वे नीले, पीले, लाल, आदि रंगों से रंगे जाते थे।[51]

उस समय वस्त्रों को रंगों में रंगा तो जाता ही था, उन पर चित्रकारी (विभिन्न प्रकार की कशीदाकारी) भी की जाती होगी, क्योंकि वत्स नाम की नगरी की उपमा रत्न चित्राम्बरधरा अभिसारिका में दी गई है।[52] यह द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि माना जा सकता है और तृतीया तत्पुरुष में बहुव्रीहि समास भी। दोनों ही पक्षों में वस्त्रों को चित्रित करने का संकेत प्राप्त होता है।

लालरंग के उपर्युक्त निर्देश से तथा वस्त्रों के लाल, पीले और नीले रंगों के निर्देश से यह अनुमान करना सरल है कि कम्बल अन्य रंगों के भी होते होंगे।

एक स्थान पर 'नानोपधानकाधाने शयने' के लेख से उस काल में प्रयुक्त बिस्तर की भी झीनसी झांकी मिलती है। जिसमें तकिया और गद्दे आदि का प्रयोग होता था। ये कई प्रकार के होते होंगे जिनका वर्णन उपलब्ध नहीं है।

अलंकार

मुकुट—मुकुट राजाओं के राजत्व का द्योतक था। अतः तत्कालीन समय में राजालोग मुकुट लगाया करते थे। हरिवंशपुराण में कहा गया है कि चौदह रत्नों, नौ निधियों और मुकुट बद्ध बत्तीस हजार राजा सुभौम की सेवा करते थे।[53]

अन्य देशों और कालों में भी मुकुट नृपत्व और शासकीय अधिकार का चिह्न रहा है। अतः सामान्य जनता का सामान्य जीवन में मुकुट के प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। आजकल हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों में विवाह काल में वर मुकुट धारण करता है। जिनसेन के काल में भी यह परम्परा रही हो सकती है, परन्तु इसका कोई उल्लेख नहीं है। यद्यपि विवाह यात्रा का वर्णन जिनसेन ने किया है तथापि वहाँ वर-वधु के अलंकरण का विवरण नहीं है।

49. मत्स्य पुराण, 62:28
50. महावग्ग, 5:1:10
51. वही, 8:29:1
52. हरिवंशपुराण, 14:4
53. वही, 25:30

पद्मराग मणि—मणियों को भी आभूषणों में जड़ा कर पहनने की परिपाटी इस देश में रही है। आज भी यह प्रचलित है। जिनसेन के युग में भी यह प्रचलित थी क्योंकि उन्होंने वर्णन किया है कि भगवान ऋषभदेव की चिकनी एवं नीली चोटी पर धारण किया गया पद्मरागमणि ऐसा वर्णोत्कर्ष को प्राप्त हो रहा था मानों इन्द्रनील मणि के ऊपर ही धारण कर रखा हो। इस प्रकार के आभूषणों का समृद्ध और ऐश्वर्यशाली जन ही प्रयोग कर सकते होंगे। ऋषभदेव तो दिव्य पुरुष थे।

कर्णाभूषण—पुरुष भी स्त्रियों की तरह कुण्डल पहनते थे। ऋषभदेव कुण्डल पहनते थे।[55] भरत ने भी कुण्डल प्राप्त किये थे।[56] कुण्डल सोने के बनाये जाते थे, कुण्डल रत्नों से निर्मित भी होते थे।[57] कुण्डल दोनों कानों में पहने जाते थे इसी कारण कुण्डल के उल्लेखों के साथ दो की संख्या का निर्देश भी इसी बात का द्योतक है।[58]

कण्ठाभूषण-हार—एतद्विषयक जो पुराण में वर्णन मिलते हैं उनसे यही प्रतीत होता है कि इसके प्रयोग का प्रचलन स्त्री एवं पुरुष दोनों ही वर्गों में था। राजा पूर्णचन्द्र मोतियों का हार धारण करते थे। ऋषभदेव का एक ऐसा हार था जिसमें बड़े बड़े मोती लगे हुए थे।[60]

प्रालम्बसूत्र—पुराण में प्रालम्ब शब्द प्रयुक्त हुआ है, प्रतीत होता है यह भी एक विशेष प्रकार का हार था जो स्वर्ण तथा रत्नों से निर्मित होता था, क्योंकि भगवान ऋषभदेव रत्नों से निर्मित प्रालम्ब सूत्र से सुशोभित होते थे।[61]

पुष्पमाला—पुष्पमालाएं पहिनने और पहिनाने का प्रचलन भी आजकल के

---

54. वही, 8।178
55. वही, 8।177
56. वही, 11।10
57. वही, 11।10
58. वही, 8।177, 11।10, 47।136
59. वही, 27।71
60. वही, 8।182
61. वही, 8।183

समान था। शम्बादि कुमार कण्ठों में फूलों की माला पहना करते थे।[62] विवाह के समय भी वर के गले में वधु के द्वारा पुष्पमाला पहनायी जाती थी।[63] अन्य विशिष्ट अवसरों पर व्यक्तियों को भी मालायें पहनाने की परिपाटी रही हो सकती है जैसी आज है परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है।

चन्दन तथा अगुरु की मालाएं—किसी विशिष्ट व्यक्ति का सम्मान करने के लिए चन्दन और अगुरु की माला आभूषण के रूप में प्रदान करने की रीति थी। प्रद्युम्न की विजय यात्रा के प्रसंग में विजयों के सम्मान के उपलक्ष में चन्दन और अगुरु की मालायें भेंट की गई।[64]

हस्ताभूषण-कटक (कड़ा)—पुराण के परिशीलन से ज्ञात होता है कि कटक का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे।[65] समुद्र के वैजयन्त द्वारके राजा वरतनु ने भरत को कटकादि भेंट किये थे।[66] प्रद्युम्न को अन्य वर्णन में शराब नामक पर्वत के देव ने कटक भेंट किये थे।[67] कटक स्वर्ण तथा रत्नों से निर्मित होते थे।[68]

बाजूबन्द—कटक की भांति बाजूबन्द का प्रयोग स्त्री पुरुष दोनों में प्रचलित रहा होगा। प्रद्युम्न को शराब पर्वत के देव ने बाजूबन्द भेंट किये[69] भरत को वरतनु के द्वारा बाजूबन्द दिये गये थे।[70] बाजूबन्द भी सोने तथा रत्नों से निर्मित होते थे।[71]

अंगूठी—प्रद्युम्न को वाल्मीक निवासी देव ने मुद्रिका दी।[72] ऋषभदेव तो रत्नजड़ित स्वर्णमयमुद्रिका पहनते थे।[73]

कटिभूषण-कटिसूत्र—यह सम्भवतः कमर पर धारण किया जाता था। इसे पुरुष एवं स्त्रियां दोनों ही पहनते होंगे, ऋषभदेव अपनी कटि पर कटिसूत्र पहनते थे।[74]

62. वही, 61।52
63. वही, 31।43,45।135
64. वही, 47।42
65. वही, 11।122
66. वही, 11।13
67. वही, 47।38
68. वही, 38।16' 8।181
69, वही, 47।38
70. वही, 11।13
71. वही, 8।180-181
72. वही, 47।37
73, वही, 8।186
74, वही, 8।184

मेखला – यह आभूषण भी कमर में पहना जाता होगा। मेखला को विशेष रूप से स्त्रियां धारण करती थीं।[75]

पादाभूषण नुपूर — नुपूरों को स्त्रियां पैरों में पहनती थी। ये झंकृत भी हुआ करती थी।[76]

केश-विन्यास

उस काल में स्त्रियां वेणी बांधती थी।[77] तथा पुरुष भी बालों का विन्यास किया करते थे।[78]

अंजन

उस काल में आंखों में अंजन लगाने का रिवाज था। ऋषभदेव उत्तम अंजन से अलंकृत हुआ करते थे।[79]

———

75. वही, 16।43
76. वही, 15।37, 16।43
77. वही, 30।22
78. वही, 61।52
79. वही, 8।194

अष्टम अध्याय

हरिवंशपुराण कालीन धार्मिक जीवन

धर्म क्या है ?

धर्म के विवेचन के पूर्व धर्म के शब्दार्थ का विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है। शब्द शास्त्र की पद्धति से धारणार्थक 'धृञ्' धातु के आगे मन् प्रत्यय के योग से धर्म या धर्मन् शब्द की सिद्ध होती है। वैयाकरणोंने विविध प्रकार से इस शब्द का व्युत्पन्नार्थ निर्दिष्ट किया है—

1. वह कर्म जिसके आचरण से कर्ता को इस लोक में अभ्युदय और परलोक मे मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है,
2. जिससे लोक धारण किया जाय वह धर्म है,
3. जो लोक को धारण करे वह धर्म है,
4. जो अन्यों से धारण किया जाय वह धर्म है।[1]

धर्म के सम्बन्ध में पुराण का प्रतिपादन है कि जीव दयादि कार्यों में स्थित धर्म को करना चाहिये क्योंकि धर्म समस्त सुखों को देने वाला होता है, चार निकाय के देवों में तथा मनुष्यों में जो भी सुख होता है वह धर्म से ही उत्पन्न हुआ होता है।[2] जिनसेनाचार्य कहते है कि कर्मों से उत्पन्न, स्वाधीन तथा अन्त से रहित मोक्ष सम्बन्धी सुख भी धर्म से ही होता है।[3] अतः सार्वत्रिक कल्याण की प्राप्ति के लिए धर्माचरण की ही प्रयोजनीयता है। धर्माचरण के अभाव में किसी प्रकार का कल्याण सम्भव नही है।

महाभारत मे धारण करने से इसे धर्म कहा गया है। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण के साथ रहे वह धर्म है—यह निश्चय है।[4]

---

1. संस्कृतशब्दार्थ कौस्तुभम्, पृष्ठ 549 और कल्याण हिन्दु संस्कृति, पृष्ठ 369
2. जिनेन्द्रोक्त धर्मो धर्मः कार्यः सर्वसुखाकरः।
   प्राणिभिः सर्वयत्नेन स्थितः प्राणिदयादिषु ॥
   सुखं देवनिकायेषु मानुषेषु च यत्सुखम्।
   इन्द्रियार्थसमुद्भूतं तत्सर्वं धर्म सम्भवम् ॥—हरिवंशपुराण, 10:4-5
3. कर्मक्षयसमुद्भूतमपवर्गसुखं च यत्।
   आत्माधीनमनन्तं तद् धर्मादेवोपजायते ॥—हरिवंशपुराण, 10:6
4. धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
   यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥—महाभारत-कर्णपर्व 69:58

मनु स्मृति में वर्णन है कि श्रुति एवं स्मृति में प्रतिपादित धर्म का आचरण कर्ता मनुष्य इस लोक में यश और परलोक में उत्तमसुख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।[5]

गीता में धर्म की उपादेयता का वर्णन किया गया है कि जब जब धर्म ह्रास और अधर्म का उत्थान होता है तब तब भगवान को धरातल पर अवतीर्ण होना पड़ता है। साधुओं की रक्षा, दुष्टों के नाश और धर्म की पुनः स्थापना के लिए भगवान को प्रकट होना पड़ता है।[6]

धर्म के बारे में श्रुति का कहना है कि धर्म सम्पूर्ण संसार की प्रतिष्ठा—अर्थात् एक मात्र आश्रयभूत है, संसार में लोग उसी के निकट जाते हैं जो धर्मशील होता है। लोग धर्माचरण के द्वारा अपने कुल पाप को हटा देते हैं। धर्म पर सब कुछ आधारित है अतः धर्म सबसे श्रेष्ठ कहा गया है।[7]

पुराण और धर्म

✓ पुराण प्राचीन भारत के धार्मिक एवं सामाजिक अध्ययन के लिए प्रामाणिक स्रोत है, इनकी इस विशेषता का परिचय पुराण-लक्षण से मिल जाता है।[8] पुराण के पंचलक्षण सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित धार्मिक जीवन में अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध है। पंचलक्षणों के अन्तर्गत विविध वृतान्त-आख्यान, उपाख्यान, गाथाओं में समाज की विभिन्नावस्थाओं के दर्शन होते हैं। हरिवंशपुराण भी इसका अपवाद नहीं है। अतः इसमें प्रतिबिम्बित धार्मिक विचारधाराओं और स्थितियों का अध्ययन इस पुराण के सांस्कृतिक अध्ययन की एक आवश्यक कड़ी है।

हरिवंशपुराण के धार्मिक विषय

प्रस्तुत हरिवंशपुराण एक जैन पुराण है। जैन विद्वानों ने हरिवंशपुराण को जैन धर्म के पुराणों में प्रमुख पुराण माना है। हरिवंश पुराण में जैन परम्पराओं,

5. श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुष्ठितम् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुख ॥—मनु स्मृति, 2.9

6. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥—गीता, 4.7-8

7. धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठ प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति ॥
—तैत्तिरिय आरण्यक, '0 63 7

8. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितश्चेति पुराणं पंचलक्षणम् ॥—मत्स्य पुराण, 53.64, वराहपुराण, 2.4

रीतिरिवाजों व्रतादि नियमो का तथा जैन तीर्थंकरों और श्रावकों आदि का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

पुराणों के अन्तर्गत तीर्थों, व्रतो के माहात्म्य का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रत्येक माहात्म्य की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए एक उपाख्यान या वृतान्त जोड़ा गया है। कहीं कहीं यह वृतान्त एक के बाद एक आते हैं और मुख्य माहात्म्य का विषय दृष्टिपथ से बहुत दूर हट जाता है। तीर्थों और व्रतों के ये माहात्म्य वर्णन पुराणों की अभिष्ट विचारधारा का ही पोषण करते हैं। अन्य साम्प्रदायिक पुराणों के समान जैन पुराण भी जैन तीर्थों के महत्त्व के सूचक वृतान्तों का ही वर्णन करते है।[9]

अब हरिवंशपुराण मे चित्रित धार्मिक विचारधारा का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

दिव्य पुरुष—जैनागम मे शलाका पुरुषो को दिव्य पुरुष कहा गया है। शलाका पुरुष का आशय महाशक्तिशाली पुरुष से है। इनकी संख्या तिरेसठ है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र का समूह तिरेसठ शलाका पुरुष है।

नेमिनाथ ने श्रीकृष्ण के प्रश्न के उत्तर मे तिरेसठ शलाका पुरुषो का वर्णन सक्षेप में निम्न प्रकार से किया है—

चौबीस तीर्थंकर—सबसे पहले तीर्थंकर श्री वृषभनाथ हुए जिन्हें आदिनाथजी भी कहते हैं। उनके पश्चात् 2. अजितनाथजी, 3. सम्भवनाथजी, 4. अभिनन्दननाथ जी, 5. सुमतिनाथजी, 6 पद्मप्रभुजी, 7. सुपार्श्वनाथजी, 8. चन्द्राप्रभुजी, 9. पुष्पदन्तजी, 10. शीतलनाथजी, 11 श्रेयान्सनाथजी, 12. वासपूज्यजी, 1३. विमलनाथ जी, 14 अनन्तनाथजी, 15. धर्मनाथजी, 16. शान्तिनाथजी, 17. कुन्थुनाथजी, 18. अरहनाथजी, 19 मल्लिनाथजी, 29. सुव्रतनाथजी, 21. नमिनाथजी और बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथजी थे। उनके पश्चात् तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथजी और

9. (क) हरिवंशपुराण, 10|5-158, 58|5-300
(ख) आदिपुराण, 5|226-290, 18|1-200, 34|9 -186
(ग) उत्तर पुराण, 62|125-131
(घ) पाण्डव पुराण, 4|63-68

चौबीसवें तीर्थंकर महावीरजी होंगें।[10] इन तीर्थंकरों का सविस्तार वर्णन परिशिष्ट में संलग्न चार्ट में दिया गया है।

बारह चक्रवर्ती—1. भरत, 2. सगर, 3. मघवा, 4. सन्तकुमार, 5. शान्तिनाथ, 6. कुन्थु, 7. अर 8. सुभौम, 9. पद्म, 10. हरिषेण, 11. जयसेन तथा 12. ब्रह्मदत्त थे।

नौ नारायण—1. त्रिपृष्ठ, 2. द्विपृष्ठ, 3. स्वयंभू, 4. पुरुषोत्तम, 5. पुरुष सिंह, 6. पुण्डरीक, 7. दत्त, 8. नारायण और 9. कृष्ण थे। नारायणों को अर्ध-चक्रवर्ती भी कहते हैं।

नौ प्रतिनारायण—1. अश्वग्रीव, 2. तारक, 3. मेरुक, 4. मधुकैटभ, 5. निशुम्भ, 6. बलि, 7. प्रहरण, 8. रावण, 9. जरासंध थे। इनका प्रति शत्रु भी कहते हैं।

नौ बलदेव-1. विजय, 2. अचल, 3. सुधर्म, 4. सुप्रभ, 5. सुदर्शन, 6. नान्दी, 7. नन्दि मित्र, 8. राम और 9. पद्म थे।

जिनपूजा—जिनसेनाचार्य ने पूजा तथा पूजन सामग्री का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—सर्व प्रथम जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के तीन प्रदक्षिणाएं की जाती थीं, तदनन्तर दूध, इक्षु की धारा, घी, दही तथा जलादि से अभिषेक किया जाता था और इसके बाद चन्दन की गन्ध, अखण्डचावल, पुष्प धूप, दीपक, नैवेद्य आदि से जिन प्रतिमा की पूजा की जाती था।[11]

10. आद्यो वृषभनाथोऽजितः संभवः प्रभुः ।
अभिनन्दननाथश्च सुमतिः पद्मसप्रभः ॥
सुपार्श्वनामधेयः चन्द्रप्रभ इतीश्वरः ।
सुविधिः शीतलः श्रेयान् वासुपूज्यश्च पूजितः ॥
विमलः अनन्तजिद्धर्मः शान्तिः कुन्थुररो जिनः ;
मल्लिः कल्पकुलोद्धारो मुनीन्द्रो मुनिसुव्रतः ॥
नमिश्च निर्वृतो नेमिर्वर्तमानः अहमस्तु ।
पार्श्वश्चापि महावीरो भवितारो जिनेश्वरौ ॥—हरिवंशपुराण, 60/138-141

11. इत्युक्तो नोदयद्वेगात्सारथी रथमाप सः ।
जिनवेश्म समासाद्य तौ प्रविष्टौ प्रदक्षिणम् ।
क्षीरेक्षुरसधारौघैर्घृतदध्युदकादिभिः ।
अभिषिच्य जिनेन्द्रार्चामर्चितां नृसुरासुरैः ॥
हरिचन्दनगन्धाढ्यैर्गन्धशाल्यक्षताक्षतैः ।
पुष्पैर्नानाविधैर्धूपैः कालागुरुसमुद्भवैः ॥
दीपैर्दीप्रशिखाजालैर्नैवेद्यैर्निरवद्यकैः ।
तावानर्चतुरर्चां तामर्चनाविधिकोविदौ ॥—हरिवंशपुराण, 22/20-23

मुनि तथा श्रावक धर्म

दया सत्यास्तेयं ब्रह्मचर्यममूर्च्छता ।
सूक्ष्मतो यतिधर्मः स्यात्स्थूलतो गृहमेधिनाम् ॥

अर्थात् पंच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये सूक्ष्म रीति से धारण किये जावें तो मुनि का धर्म है और स्थूल रीति से धारण किये जावें तो गृहस्थ का धर्म है ।

श्रावक धर्म—काम, इन्द्रियां गुणस्थान, जीवस्थान कुल और आयु के भेद तथा योनियों के नाना विकल्पों का आगम रूपी चक्षु के द्वारा अच्छी तरह अवलोकन कर बैठने उठने आदि क्रियाओं में छह् कार्य के जीवों के वध-बन्धनादिक का त्याग करना प्रथम अहिंसा महाव्रत कहलाता है । रागद्वेष तथा मोह के कारण दूसरों को सन्ताप उत्पन्न करने वाले वचन हैं, उनसे निवृत्त होना सत्य महाव्रत है । बिना दिया हुए द्रव्य के ग्रहण का त्याग करना अचौर्य महाव्रत है । कृत कारित और अनुमोदना से स्त्री और पुरुष का परस्पर में एक दूसरे का त्याग करना ब्रह्मचर्याणु महाव्रत कहा गया है । बाह्याभ्यन्तरवर्ती समस्त परिग्रहों से पूर्ण रूप से विरक्त होना अपरिग्रह महाव्रत है ।[12]

मुनि धर्म—पच महाव्रतों को सूक्ष्म रीति से धारण किया जावे तो मुनि धर्म है । दृष्टिगोचर जीवों के समूह को बचाकर गमन करने वाले मुनि के प्रथम इर्यासमिति होती है । सदा कर्कश और कठोर वचन छोड़कर यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले यति का धर्म कार्यों मे बोलना भाषा समिति होती है । शरीर की स्थिरता के लिए पिण्ड शुद्धिपूर्वक मुनि का जो आहार ग्रहण करना है वह ऐषणा समिति कहलाती है । देखकर योग्य वस्तु का रखना और उठाना आदान निक्षेपण समिति है । भूमि पर शरीर के भीतर का मल छोड़ना प्रतिष्ठापन समिति है । इन पांचो समितियो तथा

12 कायेन्द्रियगुणस्थानजीवस्थानकुलायुषाम् ।
भेदान् योनिविकल्पांश्च निरूप्यागमचक्षुषा ॥
क्रियासु स्थानपूर्वासु वधादिपरिवर्जनम् ।
षण्णां जीवनिकायानामहिंसाद्य महाव्रतम् ॥
यद्रागद्वेषमोहेभ्यः परतापकरं वचः ।
निवृत्तिस्तु ततः सत्यं तद् द्वितीयं तु महाव्रतम् ॥
अल्पस्य महतो वापि परद्रव्यस्य साधुना ।
अनादानमदत्तस्य तृतीयं तु महाव्रतम् ॥
स्त्रीपुंसयोः परित्यागः कृतानुमतकारितैः ॥
ब्रह्मचर्यमिति प्रोक्तं चतुर्थं तु महाव्रतम् ॥
बाह्यान्तरवर्तिभ्यः सर्वेभ्यो विरतिर्यतः ।
स्यात्परिग्रहदोषेभ्यः पञ्चमं तु महाव्रतम् ॥ हरिवंशपुराण, 2.116–121

मनयोग, वचनयोग और काययोग की शुद्ध प्रवृत्ति तीन गुप्तियों का पालन मुनि का धर्म है।[13]

मन और इन्द्रियों का वश में करना, समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग —इन छः आवश्यक क्रियाओं का पालन करना. केश लोंच करना, स्नान न करना, एक बार भोजन करना, खड़े-खड़े भोजन करना, वस्त्र धारण न करना, पृथ्वी पर शयन करना, दन्तमल दूर करने का त्याग करना, बारह प्रकार का संयम चारित्र, परिषहविजय, बारह अनुप्रेक्षायें उत्तमक्षमादि दस धर्म, ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, और तप-विनय की सेवा मुनि धर्म है।[14]

स्वाध्याय

पुराणकार ने श्रावक के लिए स्वाध्याय आवश्यक बताया है तथा स्वाध्याय के वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और उपदेश के भेद से पाँच भेद किये हैं। निर्दोष ग्रन्थ तथा उसका अर्थ दूसरे के लिए प्रदान करना-पढ़कर सुनाना वाचना नाम का स्वाध्याय है। अनिश्चित तत्व का निश्चय करने के लिए अथवा निश्चित तत्व को सुदृढ़ करने के लिए दूसरे से पूछना वह पृच्छना नामका स्वाध्याय है। पाठ को

---

13. चक्षुर्गोचरजीवौघान् परिहृत्य यतेर्यतः ।
ईर्यासमितिराद्या सा व्रतशुद्धिकरी मता ॥
त्यक्त्वा कार्कश्यपारुष्यं यतेर्यत्नवतः सदा ।
भाषणं धर्मकार्येषु भाषासमितिरिष्यते ।
पिण्डशुद्धिविधानेन शरीरस्थितये तु यत् ।
आहारग्रहणं सा स्यादेषणासमितिर्यतेः ॥
निक्षेपणं यदादानमीक्षित्वा योग्यवस्तुनः ।
समितिः सा तु विज्ञेया निक्षेपादाननामिका ॥
शरीरान्तर्मलत्यागः प्रगतासु भूमिषु ।
यतस्समितिरेषा तु प्रतिष्ठापनिका मता ॥
एवं समितयः पंच गोप्यास्तिस्रस्तु गुप्तयः ।
वाङ्मनःकाययोगानां शुद्धरूपा प्रवृत्तयः । —हरिवंशपुराण, 2।122-127

14. चिरोन्द्रियनिरोधश्च षडावश्यकसत्क्रियाः ।
लोचास्नानैकभक्तं च स्थितिभुक्तिरचेलता ॥
भूमिशय्याव्रतं दन्तमलमार्जनवर्जनम् ।
तपः संयमचारित्रं परीषहजयः परः ॥
अनुप्रेक्षाश्च धर्मश्च क्षमादिदशलक्षणः ।
ज्ञानदर्शनचारित्रतपोविनयसेवनम् ॥ —वही, 2।128-130

बार-बार पढ़ना आम्नाय है और दूसरों को धर्म का उपदेश देना उपदेश नामका स्वाध्याय है। ज्ञान का मन से चिन्तन करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है।[15]

आहारदान विधि

पुराणकार ने मुनि को आहारदान करने के लिए—(1) अतिथि को पड़गाहना, (2) उच्च स्थान पर बैठाना, (3) पाद प्रक्षालन करना, (4) दाता द्वारा अतिथि की पूजा करना, (5) नमस्कार करना, (6) मनः शुद्धि, (7) वचन शुद्धि, (8) काय-शुद्धि और (9) आहार-शुद्धि बोलना। इस प्रकार की बातें आहार के लिए जानने योग्य है।[16]

हरिवंशपुराण में उपवासव्रतादि नियम

जिनसेनाचार्य ने उपवास-व्रतों का विस्तार पूर्वक निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

1. सर्वतोभद्र

सर्वतोभद्र व्रत 100 दिन में पूर्ण होता है। इसमें विविध कर्मों का क्रम इस प्रकार है—एक उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, चार उपवास और एक पारणा, पाँच उपवास और एक पारणा है।

इसकी गणना के लिए सर्वतोभद्र चित्र इस प्रकार बनाएं—पांच अंग का एक चौकोर प्रस्तार बनाकर एक से पांच तक के अंक इस प्रकार लिखें कि सब ओर से

15 ग्रन्थार्थयोः प्रदानं हि वाचना पृच्छनं पुनः।
परानुयोगो निश्चित्यै निश्चितानुबलाय वा॥
ज्ञानस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा परिवर्तनम्।
आम्नायो देशनान्येषामुपदेशोऽपि धर्मगः॥
प्रशस्ताध्यवसायार्थं प्रज्ञातिशयलब्धये।
संवेगाय तपोवृद्ध्यै स्वाध्यायः पंचधा भवेत्॥ —हरिवंशपुराण, 64/46-48

16. प्रतिग्रहोऽतिथेरुच्चैःस्थानस्थापनमन्यतः
पादप्रक्षालनं दाता पूजनं प्रणतिस्ततः॥
मनोवचनकायानामेषणायाश्च शुद्धयः।
प्रकारा नव विज्ञेया दानपुण्यस्य सद्ग्रहे॥ —वही, 9/199-200

(ख) प्रमदभारवशीकृतमानसस्तमभिगत्य परीत्य वधू युतः।
सविनय प्रतिगृह्य शुचिः शुचि शुचिनि साधुमधान्मणिकुट्टिमे॥
प्रियवधूकरधारितसत्कनत्कनककर्करिकाजलधारया।
व्यपगतासुकया वरभूभुता स्वकरधौतमकारि मुनेः पदम्॥
सुरभिगन्धसुमाक्षतपुष्पसत्प्रकरदीपकधूपफलैः वरैः
समभिपूज्य वचस्तनुचेतसा समभिवन्द्य सुदानमदान्मुदा॥ —वही, 15/10-12

(ग) वही, 16/59-60

गिनने पर पन्द्रह-पन्द्रह उपवासों की संख्या निकले। इन पन्द्रह उपवासों को पाँच भंगों का गुणा करने पर पच्चीस की संख्या निकलती है। दोनों को मिलाकर 100 दिन हो जाते हैं। यह व्रत निर्वाण तथा स्वर्ग आदि की प्राप्ति रूप समस्त कल्याणों को प्रदान करता है।[17] (सर्वतोभद्र चित्र के लिए परिशिष्ट–1 में चित्र संख्या 1 देखें)

2. वसन्तभद्र व्रत

यह व्रत 40 दिन में पूर्ण होता है—जिसमें 35 उपवास और 5 पारणाएं होती हैं। उनका क्रम 5 उपवास 1 पारणा, 6 उपवास 1 पारणा, 7 उपवास 1 पारणा, 8 उपवास 1 पारणा, 9 उपवास 1 पारणा।

इसकी गणना के लिए एक सीधी रेखा में पाँच से नौ तक की संख्या के नीचे एक एक पारणा लिखें इस प्रकार कुल चालीस की संख्या हो जाती है।[18] (परिशिष्ट–1 मे चित्र संख्या 2 देखें)

3. महासर्वतोभद्र व्रत

यह व्रत दो सौ पैंतालीस दिन में पूर्ण होता है। इसमें एक सौ छयानवे उपवास तथा उनचास पारणाएँ होती हैं। उनका क्रम एक उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा इसी तरह सात संख्या तक करना होता है।

इसकी गणना के लिए सात भंगों का एक चौकोर प्रस्तार बनाकर एक से सात तक की संख्या इस प्रकार लिखें कि सब ओर से संख्या का जोड़ अट्ठाईस-अट्ठाईस आवे। एक-एक भंग में अट्ठाईस-अट्ठाईस उपवास और सात-सात पारणाएँ होती हैं। सातों भंगों को मिलाकर एक सौ छयानवें उपवास और उनचास पारणाएं होती है।[19] (महासर्वतोभद्र चित्र के लिए परिशिष्ट 1 मे चित्र संख्या 3 देखें)

---

17. एकादिषूपवासेषु पंचान्तेषु यथाक्रमम् ।।
अन्तयोः कृतयोरादौ शेषभंगमनुद्भवे ।।
कल्पितश्चतुरस्रोऽयं प्रस्तारः पंचभंगकः ।
सर्वतोऽप्युपवासाश्च गण्याः पंचदशात्र हि ।।
पंचभिर्गुणितास्ते स्युः संख्यया पंचसप्ततिः
ताडिताः पंचभिः पंच पारणाः पंचविंशतिः ।।
सर्वतोभद्रनामायमुपवासविधिः कृतः ।
विधत्ते सर्वतोभद्रं निर्वाणाभ्युदयोदयम् ।। —वही, 34.52-55

18. पंचादिषु नवान्तेषु भद्रोत्तरवसन्तकः ।
त्रिंशिस्तत्रोपवासास्तु पंचत्रिंशत्समं परम् ।। —वही, 34.56

19. सप्तान्तेष्वेकपूर्वेषु प्रस्तारे सप्तभंगके ।
आद्ययोः कृतयोरन्ते सर्वभंगेष्वनुक्रमम् ।।
अष्टाविंशतिरिष्टास्ते सर्वतः सप्तपारणाः ।
स महासर्वतोभद्रः सर्वतोभद्रसाधनः ।। —वही, 34.57-58

4. त्रिलोकसार व्रत

यह व्रत इगतालीस दिन में पूर्ण होता है। इसमें तीस उपवास और ग्यारह पारणाएं होती हैं। इसमें उपवासादि का क्रम पांच उपवास और एक पारणा, चार उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, चार उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा, और एक उपवास और एक पारणा। इस व्रत से कोष्ठ बीज आदि ऋद्धियों तथा तीन लोक के शिखर पर तीन लोक का सारभूत मोक्ष सुख प्राप्त होता है।

जिसमें नीचे से पांच से एक तक फिर दो से चार तक और उसके बाद तीन से एक तक बिन्दु हो वह त्रिलोकसार विधि है।[20] (चित्र के लिए परिशिष्ट–1 मे चित्र सख्या 4 देखे)

5. वज्रमध्य व्रत

यह व्रत अडतीस दिन मे पूर्ण होता है। इसमे उन्तीस उपवास तथा नौ पारणाएं होती है। जिनका क्रम इस प्रकार है—पांच उपवास और एक पारणा, चार उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा, एक उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, चार उपवास और एक पारणा, पांच उपवास और एक पारणा। इस व्रत के करने से इन्द्र चक्रवर्ती और गणधर का पद, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान, प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस व्रत की गणना के लिए बिन्दुओं को इस प्रकार रखें कि आदि और अन्त मे पांच पांच तथा बीच मे घटते-घटते एक बिन्दु रह जाय। (चित्र के लिए परिशिष्ट–1 मे चित्र सख्या 5 देखे)

20 पञ्चाद्या वज्र रूपान्ता द्व्याद्यास्ते चतुरन्तकाः ।
त्र्याद्या रूपान्तकाः स त्रिलोकसारः स्मृतो विधिः ॥
प्रस्तारश्चास्य विन्यस्यस्त्रिलोकाकृतिरत्र तु ।
धारणाः पारणाश्चापि त्रिंश देकादशक्रमात् ॥
फलमस्य विधेः श्रेष्ठं कोष्ठबीजादिबुद्धयः ।
त्रिलोकसारभूतं च त्रिलोकशिखरे सुखम् ॥ —वही, 34।59-61

6. मृदंगमध्यव्रत

यह व्रत तीस दिन में पूर्ण होता है जिसमें तेईस उपवास और सात पारणाएं होती हैं। इसका क्रम दो उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, चार उपवास और एक पारणा, पांच उपवास और एक पारणा चार उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा। इस व्रत के फल से क्षीरस्रावित्व, अक्षीणमहानस आदि ऋद्धियाँ, अवधिज्ञान और मोक्ष प्राप्त होती है।

इसमें पृथक् पृथक् पंक्तियों में क्रमशः दो से पांच तक और चार से दो तक बिन्दुएं रखी जाती हैं। [22] (इसके चित्र के लिए परिशिष्ट–1 में चित्र संख्या 6 देखें)

7. मुरजमध्य व्रत

यह छत्तीस दिन में पूर्ण होता है जिनमें अट्ठाईस उपवास और आठ पारणाएं होती है। इनका क्रम पांच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, चार उपवास और एक पारणा, पाँच उपवास और एक पारणा। इस व्रत का फल भी मृदंगमध्य व्रत के समान ।

जिसमें पृथक्-पृथक् पंक्तियों में क्रमशः पाँच से दो तक तथा दो से पाँच तक बिन्दुएं रखी जावें मुरजमध्य-व्रत होता है।[23] (परिशिष्ट–1 में चित्र संख्या 7 देखें)

8. एकावली व्रत

यह व्रत 48 दिन में पूर्ण होता है जिसमें चौबीस उपवास और चौबीस ही पारणाएं होती हैं। इसमें एक उपवास और एक पारणा के क्रम से चौबीस उपवास और चौबीस पारणाएं होती हैं। यह अखण्ड सुख प्रदान करता है।[24] (परिशिष्ट—1 में चित्र संख्या 8 देखें)

---

22. द्वयाद्यास्ते यत्र पंचान्ता द्वयन्ताश्च चतुरादयः।
विधिर्मृदंगमध्योऽयं मृदंगाकृतिरिष्यते ।।
क्षीरस्राविस्वमक्षीणमहानसगुणादिकाः।
लब्ध्योऽवधिरन्ते च फलं निर्वाणमस्य च ।। —हरिवंशपुराण, 34।64-56

23. पंचादयो द्विपर्यन्ताः पंचान्ता द्वयादयः परे।
विधिर्मुरजमध्योऽस्य फलं चानन्तरं मतम् ।। —वही, 34।56

24. चतुर्थकानि यत्र स्युश्चतुर्विंशतिरेव वा।
एकावली फलं तस्याः सुखमेकावलीस्थितम् ।। —वही, 34।67

9. द्विकावली व्रत

यह व्रत छ्यासठवे दिन में पूर्ण होता है, जिसमें अड़तालीस बेला और अड़तालीस पारणाएं होती हैं। इसमें एक बेला के बाद एक पारणा होता है। यह व्रत दोनों लोकों में सुख को देने वाला होता है।[25] (परिशिष्ट–1 में चित्र संख्या 9 देखें)

10. मुक्तावली व्रत

यह व्रत चौंतीस दिन में पूर्ण होता है, जिसमें पच्चीस उपवास और नौ पारणाएं होती हैं। इसमें क्रमशः एक उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, चार उपवास और एक पारणा, पाँच उपवास और एक पारणा, चार उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा, एक उपवास और एक पारणा होते हैं। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इसमे एक से पाँच तक और चार से एक तक बिन्दुएं होती है।[26] (परिशिष्ट–1 में चित्र संख्या 10 देखें)

11. रत्नावली व्रत

यह व्रत चालीस दिन में पूर्ण होता है। इसमें 30 उपवास और दश पारणाएं होती है। इसका क्रम एक उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा, चार उपवास और एक पारणा, पाँच उपवास और एक पारणा, चार उपवास और एक पारणा तीन उपवास और एक पारणा दो उपवास और एक पारणा, एक उपवास और एक पारणा होता है। इसका फल रत्नावली के समान अनेक गुणों की प्राप्ति होता है।

जिसमें एक से लेकर पाँच तक और पांच से लेकर एक तक बिन्दुए हों वह रत्नावली का चित्र होता है।[27] (परिशिष्ट–1 मे चित्र संख्या 11 देखें)

25. यत्र षष्ठोपवासाः स्युश्चत्वारिंशत्तथाष्ट च।
द्विकावलीसमुद्गीता लोकद्विकसुखावली॥ —वही, 34।68

26. एकाद्या यत्र पञ्चान्ता एकान्ताश्चतुरादिकाः।
मुक्तावलीसमाख्याता ख्याता मुक्तावली यथा॥
सान्तरोपक्रमेतस्या लोकालंकरणं फलम्।
मुक्तत्वपरिप्राप्तिरन्ते चात्यन्तिकं फलम्॥ —वही, 34।69-70

27. रत्ना ऽऽवलि पंचकाद्याः पञ्चाद्येकान्तिका पुनः।
रत्नावलीसमस्यैव फलम् रत्नावलीभृतः॥ —वही, 34।71

12 रत्नमुक्तावली व्रत

यह व्रत तीन सौ तैंतालीस दिन में पूर्ण होता है। जिसमें दो सौ चौरासी उपवास और उनसठ पारणाएँ होती हैं। इसका क्रम इस प्रकार है— एक उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा एक उपवास और एक पारणा, तीन उपवास और एक पारणा आदि। इस व्रत से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है।

एक ऐसा प्रस्तार बनावें जिसमें एक–एक का अन्तर देते हुए एक से पन्द्रह तक के अंक लिखें उसके आगे एक-एक का अन्तर देकर सोलह लिखे जावें और उसके आगे एक-एक का अन्तर देते हुए एक एक कम कर अन्त में एक आवे वहाँ तक लिखें। इसमें प्रारम्भ में एक अंक से दूसरा अंक लिखते समय बीचमें और अन्तमें दोसे प्रथम अंक लिखते समय बीच में पुनरुक्त होने के कारण एक का अन्तर नहीं देवें।[28] (परिशिष्ट–1 में चित्र संख्या 12 देखें)

13. कनकावली व्रत

यह व्रत पाँच मास और बारह दिन में पूर्ण होता है। जिनमें चार सौ चौंतीस उपवास तथा अठासी पारणाएं होती हैं। इनका क्रम इस प्रकार है – एक उपवास और एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणादि। यह व्रत लौकान्तिक देव पद की प्राप्ति कराता है।

जिसमें एक का अंक, दो का अंक, नौ बार तीन का अंक, फिर एक से सोलह तक के अंक, फिर चौंतीस तीन के अंक, सोलह से एक तक के अंक, नौ बार तीन के अंक तथा दो और एक का अंक हो कनकावली व्रत का चित्र होता है। (परिशिष्ट - 1 में चित्र संख्या 13 देखें)

14. सिंहनिष्क्रीडित व्रत

यह व्रत जघन्य माध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता है।

---

28. रूपान्तरा: पंचदशावमाना रूपान्तरा: षोडश यत्र चार्ये ।
रूपोनका: स्तत्परमन्तरूपा: मुक्तावलीयं खलु रत्नपूर्वा ॥
द्विशत्यशीतिश्चतुरुत्तरा: स्युरत्रोपवासा: परिगण्यमाना: ।
एकोनषष्टिश्च हि भुक्तिकाला: फलं तु रत्नत्रयसारलब्धि: ॥

—वही, 34।72-73

29. एको द्वौ च नव त्रिकाण्यपि ततश्चैकादिभि: षोडश
पार्श्वस्ते गणिताश्चतुस्त्रिकयुतं त्रिंशत्त्रिकाण्येव तु ।
रूपान्तान्यपि षोडशप्रभृतयो रन्ध्रं त्रिकं द्व्येककं
यत्रैषा कनकावली प्रकुरुते लौकान्तिकत्वं फलम् ॥

— वही, 34।74

जघन्यसिंह निष्क्रीडित व्रत अस्सी दिन में पूर्ण होता है जिसमें साठ उपवास और बीस पारणाएं होती हैं। इसका क्रम एक उपवास और एक पारणा फिर एक उपवास और एक पारणा, दो उपवास और एक पारणा, फिर दो उपवास और एक पारणा होती है।

इसके लिए एक से पांच तक के अंक दो-दो की संख्या में लिखें और उसके बाद उलटे क्रम से पांच से एक तक के अंक दो-दो की संख्या में लिखें दोनों ओर सब अंकों का जोड साठ होना है इसलिए साठ उपवास होते है और स्थान बीस है इसलिए बीस पारणाएं होती हैं।[30] (परिशिष्ट–1 में चित्र संख्या 14 देखें)

15. मध्यम सिंहनिष्क्रीडित व्रत

यह व्रत एक सौ छयासी दिन में पूर्ण होता है। जिनमें एक सौ त्रेपन उपवास और तेतीस पारणाएं होती हैं। इसका क्रम सिंहनिष्क्रीडित के समान होता है।

इसके लिए एक से आठ तक के अंक दो दो बार लिखें और उसके शीर्ष स्थान पर नौ का अक लिखे फिर उल्टे क्रम से एक तक के अंक दो दो बार लिखें। इसमें भी जघन्य की तरह दो-दो की अपेक्षा एक-एक उपवास का अ क घटाना होता है।[31] (परिशिष्ट–1 चित्र सख्या 15 देखें)

उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित व्रत

यह व्रत पांच सौ सत्तावन दिन मे पूर्ण होता है जिनमे चार सौ छियानबे उपवास और इकसठ पारणाएं होती है। इनका क्रम उपरोक्तानुसार ही है।

इसके लिए एक से पन्द्रह तक के अक दो-दो बार लिखे और उसके ऊपर शीर्ष स्थान पर सोलह का अक लिखें फिर उल्टे क्रम से एक तक के अंक दो-दो बार लिखे।[32] (परिशिष्ट 1 मे चित्र संख्या 16 देखें)

17. नन्दीश्वर व्रत

यह व्रत एक सौ आठ दिन में पूर्ण होता है। जिसमे अड़तालीस उपवास, चार बेला और बावन पारणाए होती हैं। इससे चक्रवर्ती के पद की प्राप्ति होती है।

नन्दीश्वर व्रत द्वीप की एक एक दिशा में चार-चार दधिमुख हैं। इसलिए प्रत्येक दधि मुख को लक्ष्य करके चार उपवास करने होते हैं। एक-एक दिशा में आठ-आठ रतिकर हैं इसलिए प्रत्येक रतिकर को लक्ष्य करके आठ उपवास करने होते है। एक-एक दिशा मे एक-एक अजनगिरि हैं,उसे लक्ष्य करके एक बेला करना

30. द्वौ द्वौ चैकादय. सस्ता: पञ्चपर्यवसानका: ।
 हीने ह्युभयत षष्टि. सिंहनिष्क्रीडिते विधौ ॥ —हरिवंशपुराण, 34।78
31. त एव चाष्टपर्यन्ता नव च शिखरा: पुनः ।
 मध्यमेऽप्युपवासा: स्युस्त्रि पंचाशं शतं स्फुटम् ॥ वही, 34।79
32. पूर्वे पंचदशान्तास्तु शिखरं षोडशोपिका: ।
 उत्कृष्टे तत्र ते वेद्या: पञ्चशत्या चतुर्नव ॥ वही, 34।80

इस प्रकार एक दिशा के बारह उपवास, एक बेला और तेरह पारणाएं होती है। यह व्रत पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के क्रम से चारों दिशाओं में करना होता है।[33]

18. मेरुपंक्ति व्रत

जम्बूद्वीप का एक, धातकीखण्ड पूर्वदिशा का एक, धातकीखण्ड पश्चिम दिशा का एक, पुष्करार्ध पूर्व दिशा का एक और पुष्करार्ध पश्चिम दिशा का एक, इस प्रकार कुल पांच मेरुपर्वत हैं। प्रत्येक मेरुपर्वत पर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक ये चार वन हैं, और एक-एक वन में चार-चार चैत्यालय हैं। मेरु पंक्ति व्रत में वनों को लक्ष्य कर बेला और चैत्यालयों को लक्ष्यकर उपवास करने होते हैं। इस प्रकार इस व्रत में पांचों मेरु सम्बन्धी अस्सी चैत्यालयों के अस्सी उपवास और बीस वन सम्बन्धी बीस बेला करने पड़ते है। तथा सौ स्थानों की सौ पारणाए होती हैं।

इसमें दो सौ बीस दिन लगते हैं। व्रत जम्बूद्वीप के मेरु से शुरू होता है। इसमें प्रथम ही भद्रशाल वन के चार चैत्यालयों के चार उपवास, चार पारणाए और वन सम्बन्धी एक बेला, एक पारणा होती है। फिर नन्दन वन के चार, चैत्यालयों के चार उपवास चार पारणाएं और वन सम्बन्धी एक बेला एक पारणा होती है। फिर सौमनस वन के चार चैत्यालयों के चार उपवास, चार पारणाएं और वन सम्बन्धी एक बेला एक पारणा होती है इसी प्रकार पाण्डुक वन के लिए करना होता है। इसी क्रम से धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व और पश्चिम मेरु तथा पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व और पश्चिम मेरु सम्बन्धी उपवास बेला और पारणाए करनी होती हैं। इसके करने से तीर्थंकर-पद की प्राप्ति होती है।[34] (परिशिष्ट–1 में चित्र संख्या 17 देखें)

19. विमानपंक्ति व्रत

इस व्रत में इन्द्रक की चारों दिशाओं में श्रेणीबद्ध विमानों की अपेक्षा चार उपवास, चार पारणाएं और इन्द्रक की उपेक्षा एक बेला और एक पारणा होती है। इस तरह त्रेसठ इन्द्रक विमानों की चार-चार श्रेणियों की अपेक्षा चार-चार उपवास होने से ये दो सौ बावन उपवास तथा त्रेसठ इन्द्रक सम्बन्धी त्रेसठ बेला होती हैं। त्रेसठ बेला के बाद एक तेला होता है इस प्रकार उपवास दो सौ बावन, बेला त्रेसठ

---

33. प्रतिदिशमुखं चत्वारस्ते निरस्तमनोमलाः
प्रतिदिशिकर चाष्टौ यत्र ह्युपोषितवासराः।
प्रतिदिशमथो षष्ठं कार्यं तथाचाम्लकान्यपि,
व्रतविधिरयं श्रेष्ठो मन्दीश्वरो जिनपङ्क्तिकृत् ॥ वही, 34।84

34. मेरुषु भुविवनं तु षष्ठतः प्रत्यगारमुपोषिता चतुर्थकान्।
मेरुपंक्तिविधिरेषु मेरुषु प्राप्यसिद्धि महाविधेयकम् ॥ वही, 34।85

भौर तेला एक, सब मिलाकर तीन सौ सोलह स्थान होते हैं, अतः इतनी ही पारणाएं होती हैं। यह व्रत पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के क्रम से होता है। चारों दिशाओं के चार उपवास के बाद बेला होता है। इस प्रकार इस व्रत में छह सौ सत्तानबे दिन लगते हैं, तथा इसके करने से विमानों का स्वामी होता है।[35] परिशिष्ट–1 में चित्र संख्या 18 देखें)

20. शातकुम्भ व्रत

यह व्रत जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता है।

जघन्यशातकुम्भ व्रत

यह व्रत बासठ दिन मे पूर्ण होता है। जिनमें पैंतालीस उपवास और सत्रह पारणाएं होती है।

एक प्रस्तार बनायें जिसमें एक से पांच तक के अंक पांच, चार, तीन, दो, एक के क्रम से लिखे। तदन्तर पांच को छोडकर अवशिष्ट अंकों को चार, तीन, दो, के क्रम से लिखें।[36] (परिशिष्ट–1 में चित्र संख्या 19 देखें)

मध्यमशातकुम्भ व्रत

यह व्रत एक सौ छयांसी दिन मे पूर्ण होता है। जिनमें एक सौ त्रेपन उपवास और तैंतीस पारणाएं होती हैं।

एक प्रस्तार बनावें जिसमे एक से नौ तक के अंक नौ, आठ, सात, छः, पाँच, चार, तीन, दो, एक के क्रम से लिखें। तदन्तर प्रथम अंक नौ को छोडकर आठ साता-दि के क्रम से अवशिष्ट अंको को तीन बार क्रम से लिखें। सब अंकों का जितना जोड़ हो उतने उपवास तथा जितने स्थान हो उतनी पारणाएं होती हैं।[37] (परिशिष्ट–1 में चित्र सख्या 20 देखे)

उत्कृष्टशातकुम्भ व्रत

यह व्रत पांच सौ सत्तावन दिन में पूर्ण होता है। जिसमें चार सौ छयानवे उपवास और इकसठ पारणाएं होती है।

35 चतुश्चतुर्थान्वितषष्ठकेन त्रिषष्ठितावेष्टनभागषष्ठे।
विमानपङ्क्तिविधिरस्य कर्ता विमानपंक्तीश्वरभावकर्ता॥ — वही, 34।86

36 क्रमादिरधि यत्र पंच ते लिखतो भवति क्रमभ्यतः।
शातकुम्भविधिरेव सम्भवे शातकुम्भसुखवस्तुतीयके॥ — वही, 34।87

37. एकादय: प्रणीता विधयोऽमी शातकुम्भपर्यन्ता:।
पंचनवषोडशान्ता भवन्त्यपि प्रथममध्यमोत्कृष्टा:॥ — वही, 38।88

एक प्रस्तार बनावें जिसमें एक से सोलह तक के अंक सोलह, पंद्रह, चौदह आदि के क्रम से एक तक लिखें फिर प्रथम अंक सोलह को छोड़कर अवशिष्ट पन्द्रह, चौदह आदि को तीन बार लिखें। इनका जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हो उतनी पारणाएं होती हैं।[38] (परिशिष्ट-1 में चित्र संख्या 21 देखें)

चान्द्रायणव्रत

यह व्रत इकत्तीस दिन में पूर्ण होता है और यह यश को विस्तृत करने वाला होता है।

यह व्रत चन्द्रमा की गति के अनुसार होता है। इस व्रत का करने वाला अमावस्या के दिन उपवास करता है फिर प्रतिपदा को एक कवल[39] आहार लेता है। तदन्तर द्वितीयादि तिथियों में एक-एक कवल बढ़ाता हुआ चतुर्दशी को चौदह कवल का आहार करता है। पूर्णिमा के दिन उपवास करता है और फिर चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार एक-एक कवल घटाता हुआ चौदह, तेरह, बारह आदि कवलों का आहार लेता है और अन्त मे अमावस्या को पुनः उपवास करता है।[40] (परिशिष्ट 1 मे चित्र संख्या 22 देखें)

22. सप्त-सप्तम व्रत

इस व्रत के करने की विधि यह है कि पहले दिन उपवास, उसके बाद एक-एक कवल बढ़ाते हुए आठवें दिन सात कवल का आहार लिया जाये फिर एक-एक कवल घटाते हुए अन्तिम दिन उपवास किया जाये। इसी प्रकार की क्रिया सात बार की जाये वह सप्तसप्तम व्रत है।[41]

इसी प्रकार अष्ट अष्टम, नव नवम आदि को करना चाहिये।

38. वही, 34।88

39. एक हजार चावलो का एक कवल होता है। अतः एक हजार चावलो का जितना परिमाण हो उतना कवल बनाना चाहिये।

40. योऽमावस्योपवासी प्रतिपदि कवलाहारमात्रः पुरस्ता-
तद्वृद्ध्या पौर्णमास्यामुपवसनयुतोद्ध्रासयन् ग्रासमग्रे।
सामावस्योपवासः स भजति तपसश्चन्द्रगत्यानुपूर्व्या
चार्व्यां चान्द्रायणस्य प्रथितयशसः कर्तृत्वः कर्तृभावम्॥ वही, 34।90

41. प्रागुपोष्य कवलस्य भोजनं सप्तमान्तमपि सैकवृद्धिकम्।
सप्तकृत्व इति यत्र तु क्रिया सप्तसप्तमतपोविधिस्त्वसौ॥ वही, 34।91

23. आचाम्ल वर्धमान व्रत

इसमें पहले दिन उपवास करना पड़ता है, दूसरे दिन एक बेर बराबर भोजन, तीसरे दिन दो बेर बराबर, चौथे दिन तीन बेर बराबर, इस तरह एक-एक बेर बराबर बढ़ाते हुए ग्यारहवें दिन दस बेर बराबर भोजन करना होता है। फिर दश आदि को लेकर एक-एक घटाते हुए दसवें दिन एक बेर बराबर भोजन करना चाहिए अन्त में एक उपवास करना चाहिए। इस व्रत के पूर्वार्द्ध के दश दिनों में निर्विकृति—नीरस भोजन लेना चाहिए और उत्तरार्द्ध के दश दिनों में एकस्थान के साथ अर्थात् भोजन के लिए बैठने पर पहली बार जो भोजन परोसा जाय उसे ग्रहण करना चाहिये।[42]

24. श्रुतव्रत

इस व्रत की विधि इस प्रकार है—मतिज्ञान के अट्ठाईस, ग्यारह अंगों के ग्यारह, परिकर्म के दो, सूत्र के अठासी, प्रथमानुयोग और केवलज्ञान के एक-एक, चौदह पूर्वों के चौदह, अवधिज्ञान के छह, चूलिका के पांच और मनः पर्यय ज्ञान के दो इस प्रकार एक सौ अट्ठावन उपवास करने पड़ते है। एक एक उपवास के बाद एक पारणा करना होता है। इसलिए यह व्रत तीन सौ सोलह दिनों में पूर्ण होता है।[43]

25. दर्शन शुद्धि व्रत

दर्शन विशुद्धि नामक तप व्रत मे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन सम्यग्दर्शनों के निःशंकित आदि आठ-आठ अंगों की अपेक्षा चौबीस उपवास होते हैं। एक-एक उपवास के बाद एक-एक पारणा होती है। इस तरह यह व्रत अड़तालीस दिन मे पूर्ण होता है।[44]

42. आचाम्लवर्धमाने भवन्ति सौवीरभुक्त्यस्त्वेकाद्याः।
सोपोषिता दशान्ता ह्रासादयश्चापि रूपान्ताः॥
निर्विकृति पूर्वार्धः सैकस्थानस्तु पश्चिमार्धश्च।
आचाम्लवर्धमानाः क्रमेण विधयो विधेयास्ते॥ — वही, 34।95–96

43. अष्टाविंशतिरिष्टाश्चनमतौ चैकादशाङ्गेषु ते,
द्वाविष्टौ परिकर्मणोऽष्टसहिताशीतिस्तु सूत्रस्य हि।
एको चाद्यनुयोगकेवलकृतौ द्विःसप्तपूर्वेष्वमी
षट्पंचावधिचूलिके श्रुतविधौ द्वौ तौ मनः पर्यये॥ — वही, 34।97

44. प्रत्येकमष्टावुपवासभेदा निश्शंकिताद्यष्टगुणव्यपेक्षाः।
त्रिदर्शनानामपि ते विधेयास्तपोविधौ दर्शनशुद्धि संज्ञे॥ — वही, 34।98

26. तपःशुद्धि व्रत

तप बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें बाह्य तप के अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह भेद हैं और आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग ये छह भेद हैं। इनमें अनशनादि बाह्य तपों के क्रम से दो, एक, एक, पाँच, एक और एक इस प्रकार ग्यारह पवित्र उपवास होते हैं और प्रायश्चित आदि छः अन्तरंग तपों के क्रम से उन्नीस, तीस, दश, पाँच, दो और एक इस प्रकार सड़सठ उपवास होते हैं।[45]

27. चारित्र शुद्धि व्रत

पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति, पांच समिति के भेद से चारित्र के तेरह भेद हैं। चारित्र शुद्धि में इन सब की शुद्धि के लिए पृथक् पृथक् उपवास करने को कहा गया है। प्रथम अहिंसा महाव्रत है—1 बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक, 2 बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, 3 सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, 4 सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, 5 द्वीन्द्रिय पर्याप्तक, 6 द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक, 7 त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, 8 त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक, 9 चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक, 10 चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक, 11 संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक, 12 संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक, 13 असंज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक और 14 असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक। इन चौदह प्रकार के जीवस्थानों की हिंसा का त्याग मन, वचन और काययोग से तथा कृत कारित और अनुमोदना इन नौ कोटियों से करना चाहिये। इस अभिप्राय को लेकर प्रथम अहिंसा व्रत के एक सौ छब्बीस उपवास होते हैं और एक-एक पारणा होने से एक सौ छब्बीस ही पारणायें होती है।[46]

28. सत्य महाव्रत

सामान्यतः असत्य के आठ निमित्त माने गये है— 1. भय 2. ईर्ष्या 3. स्वपक्ष पुष्टि, 4. पैशुन्य, 5. क्रोध, 6. लोभ, 7. आत्म प्रशंसा, 8. पर निन्दा। असत्य

45. द्वावेकः पुनरेक एव हि परे पंचैक एकः क्रमात्
षोढा बाह्यतपस्यमी क्रमगताः पुण्योपवासाः पृथक्।
अन्तःस्थे दश साधिकाश्च नवभिस्त्रिंशद्द्वय व्याहृताः
पंच द्वौ पुनरेक एव च तपःशुद्धौ विधेया विधौ॥ वही, 34/99

46. चतुर्दशस्वहिंसार्थं जीवस्थानेषु भाविताः।
त्रियोगनवकोटिघ्ना ते षड्विंशं शतं स्फुटम्॥ वही, 34/100

का पूर्वोक्त नौ कोटियों त्याग को लक्ष्य करके बहत्तर उपवास होते हैं तथा उपवास के बाद एक एक पारणा होती है।[47]

29. अचौर्य महाव्रत

ग्राम, अरण्य, खलिहान, एकान्त, अन्यत्र, उपधि, अमुक्तक और पृष्ठ ग्रहण इन आठ प्रकारों से होने वाली चोरी का पूर्वोक्त नौ कोटियों से त्याग को लक्ष्य करके अचौर्य महाव्रत में बहत्तर उपवास होते हैं। प्रत्येक उपवास के साथ पारणा होती है।[48]

30. ब्रह्मचर्य महाव्रत

मनुष्य, देव, अचित्त और तिर्यंच इन चार प्रकार की स्त्रियों का, प्रथम ही स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों और तदन्तर पूर्वोक्त नौ कोटियों से त्याग को लक्ष्य करके एक सौ अस्सी उपवास तथा इतनी ही पारणाएं होती हैं।[49]

31. परिग्रह त्याग महाव्रत

चार कषाय नौ नोकषाय, और एक मिथ्यात्व इन चौदह प्रकार के अन्तरंग, दो पाए, चौपाए, खेत, अनाज वस्त्र, बर्तन, सुवर्णादिधन, यान, शयन और आसन–इन दश प्रकार के बाह्य दोनों को मिलाकर चौबीस प्रकार के परिग्रह का नौ कोटियों से त्याग के लक्ष्य को लेकर दो सौ सोलह उपवास करने होते हैं और इतनी ही पारणाएं होती है।[50]

32. एक कल्याण व्रत

> निर्विकृतिपश्चिमार्धविकस्थानं तथोपवासश्च ।
> आचाम्ल-भुक्तमेकं तपोविधिस्त्वेककल्याणः ॥

---

47. मौर्ष्यास्वपक्षपरान्यक्रोधलोभारमर्षसमैः ।
द्वासप्ततिर्नवघ्नैस्ते परनिन्दान्वितैरिति ॥ — वही, 44।101

48. ग्रामारण्यखलैकान्तैरन्यत्रोपध्यमुक्तकैः ।
सपृष्टग्रहणैः प्राग्वद्द्वासप्ततिरमी मताः ॥ — वही, 34।102

49. नृदेवाचित्ततिर्यक्स्त्रीरूपैः पञ्चेन्द्रियाहतैः ।
नवघ्नैः ब्रह्मचर्ये स्युः शतं त शीतिमिश्रितम् ॥ — वही, 34।103

50. चतुष्कषाया नव नोकषाया मिथ्यात्वमेते द्विचतुःपदे च ।
क्षेत्रं च धान्यं च हि कुप्यभाण्डे धनं च यानं शयनासनं च ॥
अन्तर्बहिर्भेदपरिग्रहास्ते रन्ध्रैश्चतुर्विंशतिराहृतास्तु ।
ते द्वे शते षोडशसंयुते स्युर्महाव्रते स्यादुपवासभेदाः ॥ — वही, 34।104-5

अर्थात् इस व्रत में पहले दिन नीरस आहार लेना, दूसरे दिन [illegible] में अर्ध आहार लेना, तीसरे दिन एकस्थान करना, चौथे दिन उपवास करना पांचवें दिन केवल इमली के साथ भात ग्रहण करना होता है।

33. पंच कल्याण व्रत

> पंचकृत्व: कृतावर्त: पंचकल्याण उच्यते।
> चतुर्विंशतिसंख्यान् स कार्यस्तीर्थंकरान् प्रति॥

इस पंचकल्याणक व्रत में एक कल्याणक व्रत में कही गई विधी को पाँच बार करना होता है। यह पंचकल्याणक व्रत चौबीस तीर्थंकरों को लक्ष्य करके किया जाता है।

34 शील कल्याणक व्रत

ब्रह्मचर्य महाव्रत में जो एक सौ अस्सी उपवास बताये हैं उनके कर लेने पर शील कल्याणक व्रत पूर्ण होता है। एक उपवास एक पारणा, दूसरा उपवास दूसरी पारणा इस क्रम से करने पर यह व्रत तीन सौ साठ दिन में पूर्ण होता है।

35. भावना व्रत

अहिंसादि पंचमहाव्रतों के प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएं हैं। एकत्रित करने पर पाँचव्रतों की पच्चीस भावनाएं होती है उन्हे ही लक्ष्य करके पच्चीस उपवास करना तथा एक-एक उपवास के बाद एक-एक पारणा करना भावना नामक व्रत है। इस प्रकार यह पचास दिन में पूर्ण होता है।[51]

36. पंचविंशति कल्याण भावना व्रत

पच्चीस कल्याण भावनाएं है उन्हें लक्ष्य करके पच्चीस उपवास करना, एक उपवास के बाद एक पारणा करना यह पंचविंशति कल्याण भावना व्रत की विधि है।[52] निम्न पच्चीस कल्याण भावनाएं है— 1. सम्यक्त्व भावना, 2. विनय भावना, 3. ज्ञान भावना, 4. शील भावना, 5. सत्य भावना, 6. श्रुत भावना, 7. समिति भावना, 8. एकान्त भावना, 9. गुप्ति भावना, 10. ध्यान भावना, 11. शुक्ल ध्यान भावना, 12. संक्लेश निरोध भावना, 13. इच्छा निरोध भावना, 14. संवर भावना, 15. प्रशस्त योग, 16. संवेग भावना, 17. करुणा भावना, 18. उद्वेग भावना, 19. भोग निर्वेद भावना, 20. संसार निर्वेद भावना, 21. भुक्ति वैराग्य

51. तुर्यव्रतोपवासैस्तु शीलकल्याणको विधिः।
पंचविंशतिसंख्यैस्तैर्भावनाविधिरिष्यते॥ वही, 34।112

भावना, 22. मोक्ष भावना, 23. मैत्री भावना, 24. उपेक्षा भावना और 25. प्रमोद भावना।[53]

37. दुःख: हरण व्रत

इस व्रत में सात भूमियों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु की अपेक्षा चौदह उपवास करने होते हैं। इसके बाद तिर्यंच गति के पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवों द्विविध आयु की अपेक्षा चार उपवास करने होते हैं। उसके बाद मनुष्यगति के पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवों का द्विविध आयु की अपेक्षा चार उपवास करते होते हैं। फिर देवगति में ऐशान स्वर्ग तक के दो, उनके आगे अच्युत स्वर्ग तक के बाईस फिर नौ ग्रैवेयकों के अठारह, नौ अनुदिशों के दो और पंचानुत्तर विमानों के दो इस प्रकार सब मिलाकर अड़सठ उपवास करने होते हैं। इस व्रत में दो उपवास के बाद एक पारणा होती है। इस तरह चौंतीस पारणा दोनों को मिलाकर एक सौ दो दिन में पूर्ण होता है।[54]

38. कर्मक्षय व्रत

इस व्रत में कर्म की तिरानबे प्रकृतियों को आदि लेकर कर्मों की जो एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियां हैं उन्हें लक्ष्य कर एक सौ अड़तालीस उपवास करने होते

53. सम्यक्त्वविनयज्ञानशीलसत्यश्रुतश्रुताः।
समित्येकान्तगुप्तीनां भावना धर्म्यशुक्लगाः॥
संक्लेशच्छानिरोधस्य संवरस्य च भावनाः।
प्रशस्तयोग संवेगकरुणोद्वेगभावनाः॥
भोगसंसारनिर्वेदभुक्तिवैराग्यमोक्षजाः।
मैत्र्युपेक्षा प्रमोदाख्याः ख्याताः कल्याणभावनाः॥ —हरिवंश पुराण, 34।114–116

54. प्रतीत्य सप्तभूमीनां जघन्यपरमायुषाम्।
चतुर्दशोपवासास्तु विधेया विधिवद्बुधैः॥
तिर्यग्गतावपर्याप्तपर्याप्तानां नृणां गतौ।
प्रत्येकमपि चत्वार ऐशानान्ते द्वयं द्वये॥
द्वाविंशतिरतस्तूर्ध्वमच्युतान्तेष्वमी ततः।
ग्रैवेयकेषु कर्तव्या अष्टादश नवस्वपि॥
द्वौ नवानुदिशेष्वेतौ द्वौ चानुत्तरपञ्चके।
अष्टषष्टिरमी सर्वे स्युर्दुःखहरणे विधौ॥ वही, 34।117–34।120

है। इसमें एक उपवास के बाद एक पारणा होती है। इस प्रकार उपवास और पारणा दोनों को मिलाकर दो सौ छियानवे दिन मे यह व्रत पूर्ण होता है।[55]

39. जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति व्रत

जिसमें पाँच कल्याणकों, चौतीस अतिशयों, आठ प्रातिहार्यों, सोलह कारण भावनाओं को लक्ष्य करके त्रेसठ उपवास किये जावे तथा एक-एक उपवास के बाद एक-एक पारणा की जावे उसे जिनेन्द्रगुण सम्पत्ति व्रत कहते हैं। यह व्रत एक सौ छब्बीस दिन में पूर्ण होता है।[56]

40. दिव्य लक्षण पंक्ति व्रत

बत्तीस व्यंजन, चौंसठ कला और एक सौ आठ लक्षणों को लक्ष्य करके दो सौ चार उपवास किये जावें उसे दिव्य लक्षण पंक्ति व्रत कहते हैं। इसमें एक उपवास के बाद एक पारणा होती है अतः दोनों को मिलाकर यह व्रत चार सौ आठ दिन मे पूर्ण होता है।[57]

41. परस्पर कल्याण व्रत

पांच कल्याणकों, आठ प्रातिहार्यों, चौंतीस अतिशयो इस प्रकार ये सैंतालीस उपवास हैं। इन सैंतालीस को चोबीस तीर्थंकरों को लक्ष्य करके चौबीस से गुणा करने पर ग्यारह सौ अट्ठाईस होते हैं। इसलिए इतने तो उपवास करने होते हैं। स्थान भी ग्यारह सौ अट्ठाईस हैं। इसलिए इतनी ही पारणाए होती हैं। इस प्रकार यह व्रत दो हजार दो सौ छप्पन दिन मे पूर्ण होता है। इसके प्रारम्भ में एक बेला और अन्त में एक तेला करना पड़ता है। यह व्रत आचरण करने वाले का कल्याण करने वाला होता है।[58]

ऊपर जितनी भी व्रत विधियों का वर्णन किया गया है उनमें उपवास का तात्पर्य एक दिन आहार न लेने से है। बेला का अर्थ दो दिन का उपवास, तेला तीन दिन का उपवास है। पारणा उपवास के बाद भोजन करने को कहते है।

---

55. नामस्त्रिंशतिरवादीरत्तरप्रकृतो: प्रति।
ते चत्वारिंशदष्टाभि: कर्मक्षयविधौ सताम्॥ —वही, 31·121

56. कल्याणातिविशेषै: प्रतिकार्यै: प्रातिहार्यकारणगः
जिनगुणसम्पत्तिरै: पंचचतुस्त्रिंशदष्टषोडशभि:॥ —वही, 34।122

57. द्वात्रिंशता चतु:षष्ट्या ह्यष्टोत्तरशतेन तैः।
दिव्यलक्षणपंक्तिः स्याद्दिव्यातिमहत: परा॥ —वही, 34।123

58. स्यात्परस्परकल्याणा चतुर्विंशतिवारतः।
आवौ षष्ठोपवासः स्यात्समाप्तावष्टमस्तथा॥ —वही, 34।124

उपर्युक्त व्रतों के अतिरिक्त भी जिनसेनाचार्य ने और व्रतों का भी संक्षेप में उल्लेख किया है। प्रतिवर्ष भादों सुदी सप्तमी के दिन उपवास करना चाहिए। यह व्रत अनन्त सुख का देने वाला होता है।[59] प्रत्येक मास की कृष्ण पक्ष की एकादशी तथा मार्गशीर्ष सुदी तृतीया के दिन उपवास करने से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।[60]

जिनसेनाचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त व्रतों को यथा शक्ति करना चाहिये क्योंकि वे साक्षात् और परम्परा से स्वर्ग और मोक्ष सम्बन्धी सुख के कारण हैं।

निष्कर्ष

धर्म के प्रकरण में प्रमुख रूप से जैनधर्म का ही प्रतिपादन है किन्तु गौण रूप से जैनेतर सम्प्रदायों के धर्मों का भी परिचय मिल जाता है। (जैसे चान्द्रायणादि व्रतों का अन्य धर्मों में भी प्रचलन रहा है) तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों नारायणों तथा प्रतिनारायणों को दिव्य पुरुष कहा गया है।

जैनधर्म के श्रावक और मुनि प्रमुख अंग है पंच महाव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह इनका सूक्ष्म रीति से धारण करना मुनि का धर्म तथा स्थूल रूप से धारण करना श्रावक का धर्म होता है। सर्वतोभद्रादि व्रत लौकिक तथा पारलौकिक सुख प्रदान करते हैं।

59. भाद्रपदशुक्लपक्षे सप्तम्यामप्यनन्तफलसुखप्रदः ।
परिनिर्वाणाख्यविधिः प्रतिवर्षमुपोषणीयस्तु ॥ — वही, 34।127

60. वही, 34।128-129

हरिवंशपुराण के पात्रों का चरित्र-चित्रण

पुराण के विशिष्ट पात्रों का चरित्र-चित्रण निम्न प्रकार है—

तीर्थंकर नेमिनाथ

राजा अंधकवृष्णि के दस पुत्र थे, जिनमें सौर्यपुर का राजा समुद्रविजय सबसे बड़ा था। उनकी रानी का नाम शिवादेवी था।

वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को चित्रा नक्षत्र में रात्रि की शुभ-वेला में रानी शिवादेवी ने पुत्ररत्न (नेमिनाथ) को जन्म दिया।[1]

भाग्यशाली पुत्र के पुण्य प्रभाव से देव देवेन्द्रों ने जन्म महोत्सव मनाया और महाराज समुद्रविजय ने भी प्रमोद से याचकों को मुक्त हस्त से दान देकर सन्तुष्ट किया और नगर में मंगल महोत्सव मनाया गया।

अरिष्ट नेमि सुन्दर लक्षण और उत्तम स्वर युक्त थे। वे एक हजार आठ शुभ लक्षणों से युक्त थे। गौतम गोत्री और शरीर से श्याम कान्ति वाले थे। उनकी मुखाकृति मनोहर थी।[2]

नेमिनाथ का पैतृक कुल

हरिवंशीय महाराजा सौरी से अन्धकवृष्णि और भोगवृष्णि दो पराक्रमी पुत्र हुए। अन्धकवृष्णि के समुद्रविजय अक्षोभ, स्तिमित-सागर, हिमवान, विजय, अचल, धारण, पूरण, अभिचन्द्र और वसुदेव ये दस पुत्र थे।[3] जो दशार्ह के नाम से प्रसिद्ध हुए।

---

1. ततः कृतसुसंगमे निशि निशाकरे चित्रया प्रशस्तसमवस्थिते ग्रहगणे समस्ते शुभे।
   असूत तनयं शिवा शिवदमुद्वैशाखज त्रयोदशतिथौ जगज्जयनकारिणं हारिणम्॥
   —हरिवंशपुराण, 38।9
2. वही, 38।40
3. वही, 18।13–14

इनमें बड़े समुद्रविजय और छोटे वसुदेव दो विशेष प्रभावशाली थे। समुद्रविजय बड़े न्यायशील उदार एवं प्रजावत्सल राजा हुए। राजा समुद्रविजय के महानेमि, दृढ़नेमि, अरिष्टनेमि, रथनेमि, सुनेमि, जयसेन, महीजय, सुफल्गु, तेजसेन, मय, मेघ, शिवनन्द चित्रक और गौतमादि अनेक पुत्र हुए।

कौरव पांडव युद्ध में नेमिनाथ की सक्रियता—

कुरुक्षेत्र की रणभूमि में एक तरफ जरासंध और दूसरी ओर समुद्रविजयादि की सेनाएं अपने-अपने व्यूह बनाकर युद्ध के लिए तत्पर खड़ी थीं।

इन्द्र के भंडारी कुबेर ने बलभद्र को दिव्यास्त्रों से पूर्ण सिंह-विध्या का रथ दिया, जिस पर बलभद्र सवार हुए और कृष्ण को गारुड़रथ दिया जो अनेक आयुधों से भरा हुआ था। भगवान नेमिनाथ भी इन्द्र के भेजे रथ पर सवार हुए जिसका सारथि मातलि था और जो सब प्रकार अस्त्र शस्त्रों से परिपूर्ण था। समुद्रविजय आदि समस्त राजाओं ने वानर की ध्वजा से युक्त वसुदेव के शूरवीर पुत्र अनावृष्टि को सेनापति बनाकर उसका अभिषेक किया।[4]

इधर राजा जरासिंध ने हर्ष पूर्वक महाशक्तिशाली राजा हिरण्यनाभ को सेनापति के पद पर नियुक्त किया। दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध के समय बजने वाली भेरियां और शंख गम्भीर शब्द करने लगे तथा दोनों ओर की चतुरंगसेना युद्ध करने के लिए परस्पर सामने आ गयी। क्रोध की अधिकता से भौंह टेढ़ी हो जाने के कारण जिनके मुख विषम हो रहे थे ऐसे दोनों पक्षों के राजा परस्पर एक दूसरे को ललकार कर यथायोग्य युद्ध करने लगे।[5]

शत्रु सेना को प्रबल और अपनी सेना नष्ट करती देख, बैल, हाथी और वानर की ध्वजा धारण करने वाले नेमिनाथ, अर्जुन और अनावृष्टि कृष्ण का अभिप्राय जानकर स्वयं युद्ध करने की तैयारी की और उन्होंने जरासिंध के चक्रव्यूह को भेदने का निश्चय किया। नेमिनाथ ने शत्रुओं के हृदय में भय उत्पन्न करने के लिए इन्द्रप्रदत्त शाक्र शंख को बजाया, अर्जुन ने देवदत्त शंख को और अनावृष्टि ने बलाहक नामक शंख को बजाया। शंखनाद होते ही उनकी सेना में महान उत्साह बढ़ गया और शत्रु सेना मे महाभय छा गया।[6]

अनावृष्टि ने चक्रव्यूह का मध्यभाग, नेमिनाथ ने दक्षिणभाग अर्जुन ने पश्चिमोत्तर भाग भेदा। फिर अनावृष्टि का जरासिंध के सेनापति हिरण्यनाभ ने, नेमिनाथ का रुक्मी ने और दुर्योधन ने अर्जुन का सामना किया।[7]

---

4. वही, 51:11–12
5. वही, 51:13–15
6. वही, 51:16–21
7. वही, 51:22–23

नेमिनाथ ने चिरकाल तक युद्ध करने वाले बाण-वर्षा से नीचे गिराकर हजारों शत्रु राजाओं को युद्ध में तितर-बितर कर दिया।[8]

नेमिनाथ का अलौकिक बल

एक दिन युवा नेमिकुमार कुबेर के द्वारा भेजे हुए वस्त्राभूषणों आदि से सुशोभित राजाओं तथा बलदेव और कृष्ण आदि के साथ यादवों से भरी कुसुमचित्रा सभा में गये। राजाओं ने अपने-अपने आसन छोड़कर उन्हें नमस्कार किया। श्रीकृष्ण ने भी आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। फिर वे दोनों आसन पर विराजमान हो गये। वे दोनों सिंहासन पर बैठे हुए दो इन्द्रों या सिंहों के सदृश सुशोभित हो रहे थे।[9]

उस सभा में बलवानों के बल की चर्चा चल पड़ी तब किसी ने अर्जुन की प्रशंसा की तो किसी ने युधिष्ठिर की और किसी ने नकुल, सहदेव, बलभद्र और श्रीकृष्ण के बल की प्रशंसा की। तब बलदेव बोले तुम लोग व्यर्थ इन सब की बड़ाई करते हो नेमिकुमारसा बल तीन लोक में किसी में नहीं है। वे पृथ्वी को उठा सकते हैं, समुद्र को दशों दिशाओं में बिखेर सकते हैं। इनसा बल सुर-नर किसी में नहीं है।[10]

श्रीकृष्ण ने नेमिकुमार की बड़ाई सुनकर जरा मुस्कराते हुए उनसे मल्लयुद्ध में बल की परीक्षा करने को कहा, "हे अग्रज! इसमें मल्लयुद्ध की क्या आवश्यकता है? यदि आपको मेरा बल जानना ही है तो लो मेरे पाँव को इस आसन से सरका दो" पाँव का सरकाना तो दूर रहा, नखरूपी चन्द्रमा को धारण करने वाली पाँव की एक अंगुली को भी सरकाने में समर्थ नहीं हो सके। उनका समस्त शरीर पसीना के कणों से व्याप्त हो गया और मुख से लम्बी-लम्बी सांस निकलने लगी अन्त में उन्होंने उनके बल को न केवल स्वीकार ही किया, वरन् उसकी प्रशंसा भी की और उनके बल को लोकोत्तर बताया।[11]

एक समय बसन्त ऋतु के आने पर नगर के सभी नर-नारी और श्रीकृष्ण अपनी रानियों सहित गिरनार पर्वत पर क्रीड़ा करने और बसन्त ऋतु का आनन्द लेने गये। वे नेमिकुमार को भी साथ ले गये। यद्यपि नेमिकुमार को इस क्रीड़ा के लिए कोई अनुराग न था पर वह भी भाई-भौजाइयों के आग्रह के कारण उनके साथ

---

8. वही, 51:22
9. वही, 55:1-4
10. वही, 55:7-8
11. वही. 55:9-12

वन को चले गये। समुद्रविजय आदि दशों भाइयों के तरुण आयु वाले सभी कुमार उनके साथ गये।[12]

गिरनार पर्वत पर उन राजकुमारों तथा रानियों की चहल-पहल से सुमेरु पर्वत के वनों के देव देवांगनाओं के सदृश सुशोभित लगने लगे। सभी नर-नारियाँ पर्वत के नितम्ब पर स्थित वनों में अपनी इच्छानुसार घूमने फिरने लगे। उस समय वन में बसन्ती फूलों की सुगन्ध से सुगन्धित दक्षिण की शीतल वायु सब दिशाओं में चल रही थी, और वृक्षों का रस पान करने वाली कोकिलाओं की मधुर कुहूकुहू सैलानियों के मन को मुग्ध कर रही थी। मधुपान करने वाले भौंरें, मौलश्री आदि के वृक्षों से गुंजार कर रहे थे। फूलों के भार से लताएं नम्रीभूत हो रही थीं। युवतियों द्वारा पुष्पचयन से बेलें कांप रही थीं। ऐसे प्राकृतिक बासन्ती सौन्दर्य में तरुण पुरुष के साथ जहां-तहां लताकुंजों, सरोवरों और वापिकाओं आदि में भ्रमण करके बसन्त का आनन्द ले रहे थे।

गिरनार पर्वत पर श्रीकृष्ण ने अपनी रानियों के साथ चैत्रमास व्यतीत किया। कृष्ण की रानियों ने अपने देवर नेमिकुमार को भ्रमण कराया। कृष्ण की सभी रानियां बड़ी वाचाल थीं। वे अपने पति की आज्ञा से अपने देवर को नानाविध वनक्रीड़ा कराने लगीं। कोई भावज नेमिकुमार का हाथ पकड़ कर विहार कराने लगीं। कोई उनको वन की शोभा दिखाने लगीं और कोई उन्हें ताल-तमाल वृक्षों की टहनियों के पंखों से हवा करने लगीं। कई भाभियां अशोक वृक्षों के नये-नये पल्लवों से कर्णाभरण या सेहरा बनाकर उन्हें पहनाने लगीं। कोई उन्हें पुष्पमालाएं पहनाने लगीं, कोई सिर पर मालाएं बांधने लगी और कोई उनके सिर को लक्ष्य बनाकर उस पर पुष्प फेंकने लगीं। इस प्रकार युवा नेमिकुमार भाभियों के साथ बसन्त का आनन्द ले रहे थे। वे भाभियां बड़ी भक्ति भाव से उनकी सेवा में तल्लीन थीं।[13]

बसन्त के बाद ग्रीष्म ऋतु आई। तब कृष्ण की प्रियाएं नेमिकुमार से जल-क्रिड़ा करने का आग्रह करने लगी। गिरनार गिरिशीतल झरनों से महामनोहर लग रहा था उन झरनों के जल से नेमिकुमार भौजाइयों के आग्रह से जलक्रीड़ा करने लगे। यद्यपि नेमिकुमार स्वतः रागरूप रज से पराङ्मुख थे तथापि उस समय जल में तैरना, डुबकी लगाना, डुबकी लगाकर दूर निकलना उनके लिए साधारण बात थी। वे पानी की पिचकारीयां मार रहे थे, भाभियां नेमिकुमार के मुख पर जल

12. वही, 55।29-31
13. वही, 55।43-48

फेंक रही थीं और नेमिकुमार उन पर दोनों हाथों से जल फेंक रहे थे। नेमिकुमार ने सभी भाभियों को जलक्रीड़ा में हरा दिया, वे पिछे हट गयीं। इस जलक्रीड़ा से उन तरुणियों का ग्रीष्मदाह मिट गयी। वे तृप्त हो गयीं करणा-भरण खिसक गये, कटि मेखलाएं शिथिल हो गयीं और केश बिखर गये। उनके शरीर थककर थकनाचूर हो गये अब उन सबने स्नान करके वस्त्र बदले।[14]

स्नान के पश्चात् नेमिकुमार ने कृष्ण की अतिप्रिया पत्नी और अपनी भाभी जामवन्ती को अपने वस्त्र निचोड़ने को आंख से इशारा किया। भाभी ने इसको बुरा माना और भौंहें टेढ़ी करके कहा—कि ऐसी आज्ञा तो उसके महाबलवान नागशय्या पर सोने वाले और शारंग धनुष को चढ़ाने वाले कृष्ण भी कभी नहीं करते, फिर आप कोई विचित्र ही पुरुष जान पड़ते हैं ? जो मेरे लिए भी गीला वस्त्र निचोड़ने का आदेश दिया है। इस पर देवरानियों, जेठानियों ने भी जामवन्ती को समझाया। जामवन्ती के वचन सुनकर वे आवेश में आकर कहने लगे कि तुने राजा कृष्ण के जिस पौरुष का बखान किया है वह कितना कठिन है ? इस प्रकार कहकर वे नगर की ओर गये और वे लहलहाते सर्पों की फणो से सुशोभित कृष्ण की विशाल नाग शय्या पर चढ़ गये। उन्होंने उनके शांर्ग धनुष को दूनाकर प्रत्यंचा से युक्त कर दिया और उनके पाँचजन्य शंख को जोर से फूंक दिया। शंख की ध्वनि से दिशाएं गूंज उठी, स्त्री-पुरुष भयभीत हो गये और स्वयं कृष्ण चिन्तित हो गये। जब कृष्ण ने देखा कि यह सब नेमिकुमार ने जामवन्ती के कहने पर किया है तब वे चिन्तित एवं हर्षित हुए उन्होंने नेमिकुमार का प्रेम से आलिंगन किया।[15]

जब कृष्ण को यह विदित हुआ कि अपनी स्त्री के निमित्त से उन्हें कामोद्दीपन हुआ है तब वे अत्यधिक हर्षित हुए। श्रीकृष्ण ने नेमिकुमार के लिए विधिपूर्वक भोजवंशियों की राजकुमारी राजीमती की याचना की। अपने बन्धुजनों को उसके पाणिग्रहण संस्कार की सूचना दी और समस्त राजाओं को स्त्रियों सहित अपने यहां आमन्त्रित किया।[16]

वर्षाऋतु में एकदिन युवा नेमिकुमार चारघोड़ों के प्रति प्रतिभावान रथ पर सवार हो अनेक राजकुमारों के साथ विवाह के लिए चले।[17]

14. वही, 55:50–57
15. वही, 55:58–71
16. वही, 55:71–72
17. वही, 55:81

प्रसन्नता से युक्त राजीमती तथा नगर की स्त्रियां तृषित नेत्रों से नेमिकुमार के सौन्दर्यरूपी जल का पान करने लगीं, कुमार का चित्त दया से पूर्ण था और उनका दर्शन मनोहर था ऐसे नेमिकुमार उन राजकुमारों के साथ धीरे-धीरे गमन कर रहे थे। उसी समय मार्ग में एक जगह भय से जिनके मन और सिर कांप रहे थे, जो अत्यन्त विह्वल थे, पुरुष जिन्हें रोके हुए थे और जो नाना जातियों से युक्त थे ऐसे तृणभक्षी पशुओं को देखा।[18]

पशुओं का भय-मिश्रित क्रन्दन सुनकर नेमिकुमार ने रथ को वहीं रुकवाया और सारथि से उन पशुओं के बारे में पूछा। तब सारथि ने बड़ी विनम्रता से हाथ जोड़कर बताया 'हे नाथ, आपके विवाहोत्सव में जो मांस भोजी राजा आये हैं उनके लिए नानाप्रकार का मांस तैयार करने के लिए यहाँ पशुओं का निरोध किया गया है।[19]

सारथि के उपर्युक्त वचन सुनकर नेमिकुमार ने तुरन्त उन पशुओं को बाड़े से मुक्त करा दिया और राजपुत्रों को सम्बोधित करते हुए कहने लगे—

गृहमरण्यमरण्यतृणोदकान्यशनपानमतीव निरागसः।
मृगकुलस्य तथापि वधो नृभिर्जगति पश्यत निर्घृणतां नृणाम् ॥
रणमुखेषु रणार्जितकीर्तयः करितुरंगरथेष्वपि निर्भयान्।
अभिमुखानभिहन्तुमधिष्ठितानभिमुखाः प्रहरन्ति न हितरान् ॥
शरभसिंहद्विपयूथपान् प्रकुपितान् परिहृत्य विदूरतः।
मृगशशान् पृथुकान् प्रहरत्यमून् कथमिवात्र पुमान्न विलज्जते ॥
चरणकण्टकवेधभयाम्दटा विदधते परिधानमुपानहाम्।
मृदुमृगान् मृगयासु पुनः स्वयं निशितशस्त्रशतैः प्रहरन्ति हि ॥
विषयसौख्यफलप्रसवोदयः प्रथम एष मृगोघवधोऽधमः।
अनुभवे पुनरस्य रसप्रदे षडसुकायनिपीडनमभ्यधि ॥
विपुलराज्यपदस्थितिमिच्छता सवलसत्त्ववधोऽभिमुखीकृतः।
दुरितबन्धफलस्तु वधो ध्रुवं कटुफला स्थितिरस्य परा यतः ॥

अर्थात् हे राजपुत्रों, वन ही जिनका घर है, वन के तृण और पानी ही जिनका भोजन-पान है और जो अत्यन्त निरपराध हैं ऐसे दीन मृगों का संसार में फिर भी मनुष्य वध करते हैं। अहो, मनुष्यों की निर्दयता तो देखो। रण में विजय-कीर्ति प्राप्त करने वाले योद्धा सामने योद्धाओं पर ही प्रहार करते हैं, निर्बलों पर नहीं। हाथी, घोड़े और रथ का सवार अपने से लड़ने को तत्पर आदमी से लड़ने को तैयार होता

18. वही, 55.82-85
19. जैनेत्तर पुराणों के अनुसार कृष्ण देवकी की आठवीं सन्तान माने गये हैं

है, दूसरे पर वार नहीं करता। सामन्तों की यह नीति नहीं है कि वन के सिंह आदि पशुओं से तो भागे और महादुर्बल मृग और बकरे आदि को मारे। उन्हें लज्जा क्यों नहीं आती ? अहो, जो शूरवीर पैर में कांटा न चुभ जाये इस भय से स्वयं तो जूता पहनते है और शिकार के समय कोमल मृगों को सैकड़ों प्रकार के तीक्ष्ण शस्त्रों से मारते है यह बड़े आश्चर्य की बात है। यह निन्द्य-मृग-समुह का वध प्रथम तो विषय सुख रूपी फल को देता है परन्तु इसका अनुभाग अपना रस देने लगता है तो उत्तरोत्तर छः कायों का विघात सहन करना पड़ता है। यह मनुष्य चाहता तो यह है कि मुझे विशाल राज्य की प्राप्ति हो, पर करता है समस्त प्राणियों का वध, यह विरुद्ध बात है।

यह कह कर नेमिकुमार विरक्त मन से द्वारिका लोट पड़े। वहाँ प्रभु ने स्नान किया और सिंहासन पर बैठ गये। वहाँ बहुत से राजा कृष्ण और बलभद्र बैठे थे। तब नेमिकुमार तप के लिए उठने लगे। यह देखकर कृष्ण, बलभद्र और भोजवंशीयों ने नेमिनाथ को विविध प्रकार की अनुनय-विनय करके और आगा पिछा समझाकर रोकने का प्रयत्न किया परन्तु सब व्यर्थ। जिस प्रकार पिंजरा तोड़-कर निकलने में उद्यत प्रबल सिंह को कोई नहीं रोक सकता, उसी प्रकार तप के लिए जाने वाले दृढ़ संकल्पी नेमिकुमार को रोकने में कोई समर्थ न हो सका। फिर नेमिकुमार ने अपने माता-पिता आदि परिवार के लोगों को अपना निर्णय और संसार की स्थिती अच्छी तरह समझाई।

इसके पश्चात् नेमिकुमार गिरनार पर्वत पर पहुँचे। वहाँ नेमिकुमार ने अपने हाथों से सिर के कुटिल केशों को उखाड़ दिया और अनेक राजाओं के साथ उन्होंने दीक्षा ले ली।

नेमिनाथ गिरनार पर्वत के सहस्त्राम्रवन उद्यान में पहुँच कर तप करने लगे और गिरनार पर्वत पर ही उन्होंने सिद्धि पाई।

श्रीकृष्ण

भारतीय साहित्य में कृष्ण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण के चरित्र का विस्तार बहुत व्यापक है। उपनिषद् से लेकर पुराणों तक के विस्तृत साहित्य में कृष्ण का व्यक्तित्व विकसित हुआ है। पुराणों में कृष्ण चरित्र निश्चित रूप धारण करता है। कृष्ण के इस प्राचीन व्यक्तित्व से वैष्णव भक्ति का निकट का सम्बन्ध है। कृष्ण के सम्बन्ध में अनेक प्राचीन वृतान्त है जो उनके चरित्र के बारे में किसी न किसी प्रकार की सूचना देते है।

जैन हरिवंशपुराण में एक हरिवंश की शाखा यादव कुल और उसमें उत्पन्न दो शलाका पुरुषों के चरित्र विशेषतया वर्णित हैं। इन शलका पुरुषों में एक

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और दूसरे नवें नारायण कृष्ण है। ये दोनों चचेरे भाई थे जिनमें एक नेमिनाथ ने अपने विवाह के अवसर पर बरातियों के स्वागतार्थ होने वाली पशुहत्या से विरक्त होकर परिणय से पूर्व ही संन्यास धर्म स्वीकार कर लिया और दूसरे कृष्ण ने कौरव पाण्डव युद्ध में अपना बल-कौशल दिखलाया। एक ने आध्यात्मिक उत्कर्ष का मानदण्ड स्थापित किया और दूसरे ने भौतिक लौकिक लीला का विस्तार किया। एक ने निवृत्ति का मार्ग दिखया तो दूसरे नें प्रवृत्ति का पद प्रशस्त किया।

वैदिक धर्म में कृष्ण को प्रवृत्ति के माध्यम से निवृत्ति का समर्थक सिद्ध किया गया है। यद्यपि वहाँ व्यवहारत: कृष्ण प्रवृत्ति मार्गी दिखाई पड़ते है, तथापि मूलत: वे निवृत्ति मार्गी ही हैं, प्रवृत्ति इनका साधन अवश्य रही है, पर साध्य तो सदा निवृत्ति ही रही। किन्तु जैन परम्परा में कृष्ण भौतिक लीला के विस्तारक वीर पुरुष की श्रेणी तक ही सीमित है, फिर भी यह स्पष्ट है कि जैन परम्परा भी इन्हे भगवत्कोटि में सम्मिलित करती है, इसलिए ही इनकी गणना तिरेसठ शलाका पुरुषों या महापुरुषों में भगवान महावीर आदि चौबीस तीर्थंकरों के साथ की गई है। अतएव जैन मान्यता भी इन्हें भगवान कृष्ण की उपाधि देने में प्रतिकूल भावना का प्रदर्शन करती प्रतीत नहीं होती, यही कारण है जैन परम्परा कृष्ण को नवम नारायण का अवतार मानती है।

आगत्य देवकीगर्भे निर्नामा सप्तम: सुत: ।
उत्पद्य भविता वीरो वासुदेवोऽत्र भारते ॥

हरिवंशपुराण–33। 73

अर्थात् निर्नामक का जीव देवकी के गर्भ में आकर सातवाँ पुत्र होगा।[20] वह अत्यन्त वीर होगा तथा इस भरतक्षेत्र मे वासुदेव (नवम नारायण) के रूप में प्रतिष्ठित होगा।

महाभारत के प्रारम्भ में ही कृष्ण को युधिष्ठिर रूपी धर्मवृक्ष का मूल कहा गया है। वहाँ कौरवों और पाण्डवों के वृत्तान्त मे उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया गया है।[21] वनपर्व मे मार्कण्डेय प्रलयकाल में जगत् को आत्मसात करके

---

20. जैनेत्तर पुराणों के अनुसार कृष्ण देवकी की आठवी सन्तान माने गये हैं।

21. युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुम:,
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखा।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे,
मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥ —महाभारत, 1।1।101

वटवृक्ष के पत्र में शयन करने वाले विष्णुको कृष्ण रूप बतलाते हैं।[22] शान्ति पर्व को नारायणीय भाग कृष्ण के परब्रह्म स्वरूप पर सबसे अधिक प्रकाश डालता है।[23] इसमें नर नारायण कृष्ण और हरि को सनातन नारायण के चार अवतार कहा गया है।[24] शान्ति पर्व में भीष्म स्तवराज के अन्तर्गत कृष्ण के विष्णुस्वरूप की स्तुति की गयी है।[25] सभापर्व में राजसूय यज्ञ के अवसर पर कृष्ण की अग्रपूजा में शिशुपाल आदि राजाओं के विरोध करने पर भी भीष्म कृष्ण के विष्णु स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं।[26] शान्ति पर्व के अन्त में भीष्म देह त्याग के पूर्व पाण्डवों को विष्णु रूप कृष्ण में आस्था रखने का आदेश देते हैं।[27]

महाभारत में कुछ जगहों पर कृष्ण मानव रूप में भी उल्लेखित होता है। पाण्डवों के सलाहकार के रूप में कृष्ण पूर्ण मानव हैं। आश्व-मेधिक पर्व के अनुगीता भाग में उत्तक ऋषि का कृष्ण को शाप देने के लिए उद्यत होना भी कृष्ण के दुर्बल मानव चरित्र की ओर संकेत करता है।[28]

बौद्ध जातकों में घटजातक कृष्ण के चरित्र को पुराणों की परम्परा से कुछ भिन्न रूप में प्रस्तुत करता हैं। इस जातक में कृष्ण के माता पिता का नाम देवगब्भा तथा उपसागर हैं नन्द और यशोदा के स्थान पर अन्धकवेण्हु तथा नन्दगोपा का उल्लेख है। इन्होंने वासुदेव तथा बलदेव के अतिरिक्त उनके आठ भाईयों का भी पालन किया। वासुदेव के द्वारा कंसवध का प्रसंग कोई विशेषता नहीं रखता। द्वारवती पर वासुदेव के अधिकार करने का प्रसंग बड़े विचित्र रूप से वर्णित है। एक गर्दभरूपधारी असुर की सलाह से वासुदेव द्वारका नगरी को हस्तगत करते हैं।

पंतजलि के महाभाष्य में कृष्ण के जीवन की एक घटना का निर्देश किया है। इसमें वासुदेव को कंस का निहन्ता कहा गया है।[29] कंस का वध कृष्ण वासुदेव से सम्बद्ध है। अतः पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट वासुदेव कृष्ण वासुदेव ही है।

22. यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायते क्षण. ।
स: एस: पुरुष व्याघ्र: सम्बन्धी ते जनार्दन: ॥ —महाभारत, 3।191
23. महाभारत, 21।321–339
24. वही, 12।321–8–10
25. वही, 12।24।75
26. वही, 2।33।7–30
27. वही, 12।47।10–61 (सुकथङ्कर संस्करण)
28. वही, 14।56, 10–27

29. महाभाष्य—"जघान कंस किल वासुदेव:" अथामिश्र दृश्यते । केचित् कंसभक्ता भवन्ति केचिद् वासुदेवभक्ता:" ।

कृष्ण चरित्र

कृष्ण श्रवण नक्षत्र में भाद्रमास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि को सातवें ही मास में अलक्षित रूप से उत्पन्न हुए,[30] कृष्ण का शरीर शंख चक्र आदि उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त था और उससे महानीलमणि के समान प्रकाश प्रकट हो रहा था।

कृष्ण के जन्म के समय पिछले सात दिनों से बराबर घनघोर वर्षा हो रही थी। उस घोर वर्षा काल में ही बालक कृष्ण को उत्पन्न होते ही बलदेव ने उठा लिया और पिता वसुदेव ने उनपर छत्ता तान लिया। दोनों रात्रि के समय ही शीघ्र ही घर से बाहर निकल पड़े। उस समय समस्त नगरवासी सो रहे थे तथा कंस की सुभट भी गहरी नींद में निमग्न थे, इसलिए कोई भी उन्हें देख नहीं सका। गोपुर द्वार पर आये तो किवाड़ बन्द थे परन्तु श्रीकृष्ण के चरणयुगल का स्पर्श होते ही उनमे निकलने योग्य छिद्र हो गया जिससे सब बाहर निकल आये।

उस समय पानी की एक बूँद बालक की नाक में घुस गई जिससे उसे छींक आ गई। उस छींक का शब्द बिजली और वायु के शब्द के समान अत्यन्त गम्भीर था। उसी समय आकाशवाणी हुई कि "तू निर्विघ्न रूप से चिरकाल तक जीवित रह" गोपुर के द्वारके ऊपर कंस के पिता राजा उग्रसेन रहते थे। उक्त आशीर्वाद उन्हीं ने दिया था। उनके इस प्रिय आशीर्वाद को सुनकर बलदेव तथा वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और उग्रसेन से कहने लगे कि हे पूज्य ! रहस्य की रक्षा की जाय। इस देवकी के पुत्र से तुम्हारा छुटकारा होगा।[31] इसके उत्तर में उग्रसेन ने स्वीकार किया कि "यह हमारे भाई की पुत्री का पुत्र शत्रु से अज्ञात रहकर वृद्धि को प्राप्त हो, उस समय उग्रसेन के उक्त वचन की प्रशंसा कर दोनों शीघ्र ही नगरी से बाहर निकले।

यमुना का अखण्ड प्रवाह बह रहा था परन्तु श्रीकृष्ण के प्रभाव से उसका महाप्रवाह शीघ्र ही खण्डित हो गया। तदनन्तर नदी को पार कर वे वृन्दावन की ओर गये वहाँ यशोदा नामक स्त्री के साथ सुनन्द नामका गोप रहता था। बलदेव और वसुदेव ने उस बालक को यह कह कर कि इनको अपना पुत्र समझकर तथा दूसरों को इसका भेद न मालुम हो। इसका पालन पोषण करना। तदनन्तर उसी वक्त उत्पन्न यशोदा की पुत्री को लेकर वे शीघ्र ही वापस आ गये और शत्रु को विश्वास दिलाने के लिए उसे रानी देवकी के लिए देकर गुप्त रूप से स्थित हो गये।[32]

---

30. हरिवंशपुराण, 35:19
31. वही, 35:21-25
32. वही, 35:27-30

कंस को यह ज्ञात हो जाने पर कि मेरा शत्रु वृद्धि को प्राप्त हो रहा है; उसने अपनी उपकृत देवियों को कृष्ण का पता लगाने तथा उसे मारने की आज्ञा दी।[33]

एक देवी शीघ्र ही उग्र-भयंकर पक्षी का रूप दिखाकर आई और चोंच द्वारा [illegible] कृष्ण को मारने का प्रयत्न करने लगी। परन्तु कृष्ण ने उसकी चोंच पकड़कर इतनी जोर से दबाई कि वह भयभीत हो भाग गई।[34]

दूसरी देवी, भूतका रूप रखकर, कुपूतना बन गई और अपने विष सहित स्तन उन्हें पिलाने लगी। कृष्ण ने उसके स्तन का अग्रभाग इतने जोर से चूसा कि वह चिल्लाने लगी।[35] तीसरी देवी पिशाची शकट का रूप रखकर उनके सामने आई कृष्णने जोर की लात मारकर उसे नष्ट कर दिया।[36] एक दिन कृष्ण के अधिक उपद्रव करने के कारण यशोदा ने कृष्ण का पैर रस्सी से कस कर उखली से बांध दिया, उसी दिन शत्रु की दो देवियां जमल और अर्जुन वृक्ष का रूप रखकर उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगी परन्तु कृष्ण ने उस दशा में भी उन दोनो को मार भगाया।[37]

कंस को ज्योतिषी ने बताया कि जो कोई नागशय्या पर चढ़कर धनुष पर डोरी चढ़ा दे और पांचजन्य शंख को फूंक दे वही तुम्हारा शत्रु है। अत. ज्योतिषी के बताये अनुसार शत्रु का पता लगाने के लिए कंस ने नगर में यह घोषणा करवादी कि जो कोई यहां आकर सिंहवाहिनी नागशय्या पर चढ़ेगा, अजितजय धनुष पर डोरी चढ़ादेगा, और पांचजन्य शंख को मुख से पूर्ण करेगा फूंकेगा वह पुरुषों मे उत्तम और सबके पराक्रम को पराजित करने वाला समझा जावेगा। कंस उसको अपना मित्र समझेगा तथा उसको अलभ्य इष्ट वस्तु देगा।[38]

कंस की घोषणा को सुनकर अनेक राजा वहाँ आये परन्तु वे सब असफल हुए, परन्तु कृष्ण महानागशय्या पर सामान्य शय्या के समान चढ़ गये। तदनन्तर उन्होंने सांपों के द्वारा उगले हुए धूम को बिखेरने वाले धनुष पर प्रत्यंचा भी चढ़ा

33. वही, 35|35-40
34. वही, 35|41
35. वही, 35|42
36. वही, 35|44
37. वही, 35|45
38. वही, 35|65-73

दी, और शब्दों से समस्त दिशाओं को भरने वाले शंख को खेद रहित अनायास ही पूर्ण कर दिया।[39]

कंस ने कृष्ण को नष्ट करने के लिए एक उपाय सोचकर समस्त गोपों के समूह को यमुना के पास उस ह्रद पर भेजा जो प्राणियों के लिए अत्यन्त दुर्गम था और जहाँ विषम साँप लहलहाते रहते थे। उनमे एक कालिया नाग का भयानक साँप भी था, परन्तु कृष्णने उस कालिया नामक नाग का अपनी बाहुबल से मर्दन कर डाला।[40]

कंस ने पुन: एक बार कृष्ण को मारने के लिए मल्लों को मल्लयुद्ध के लिए बुलाया परन्तु कृष्ण ने चाणूर जैसे महामल्ल को भी अपने बाहुबल से मार डाला।[41]

जब कंस ने देखा कि कृष्ण ने चाणूर और मुष्टिक दोनों महामल्लों को मार डाला तब स्वय कंस हाथ मे पैनी तलवार लेकर कृष्ण को मारने को दौड़े, तब कृष्ण ने सामने आते हुए शत्रु के हाथ से तलवार छीन ली और मजबूती से उसके बाल पकड़ उसे क्रोधवश पृथ्वीपर पटक दिया तथा पछाड़कर मार दिया।[42]

जब जीवद्यशा के द्वारा अपने पिता को अपने पति की मृत्युका शोक सुनाकर सुनाया तो जरासध को कृष्ण पर बहुत क्रोध आया तथा जरासध ने अपने पुत्र कालयवन को उसका बदला लेने के लिए भेजा। कालयवनने कृष्ण से सत्रह बार भयकर युद्ध किया परन्तु अन्त में वह अतुल मालावर्त नामक पर्वत पर नष्ट ही अर्थात् मारा गया।[43]

जब जरासध का पुत्र भी मर गया तब जरासंधने अपने भाई अपराजित को भेजा। वीर अपराजित ने यादवों के साथ तीन सौ छियालीस बार युद्ध किया परन्तु अन्त मे वह श्रीकृष्ण के बाणों के अग्रभाग से किनारा हो गया।[44]

श्रीकृष्ण का विवाह

इस प्रकार कृष्ण की प्रशंसा चारों ओर दिनों दिन फैलने लगी। तब सुकेतु ने एक दूत कृष्ण के पास अपनी पुत्री सत्यभामा को व्याहने की अनुमति के लिए भेजा। कृष्ण ने अपनी अनुमति प्रदानकर सत्यभामा से विवाह किया।[45]

39. वही, 35।74–77
40. वही, 36।6–7
41. वही, 36।40।44
42. वही, 36।45
43. वही, 36।65–71
44. वही, 36।72–73
45. वही, 36।55–56

एक बार नारद कृष्ण के अन्तःपुर में गये परन्तु सत्यभामा अपनी साज-सजावट में तल्लीन थी, अतः उठकर उनका सत्कार नहीं कर सकी। नारदजी का मनोभाव बदल गया जिससे वे सत्यभामा का मान भंग करने के लिए किसी अन्य सुन्दर कन्या की खोज करने के लिए चल पड़े। अब वे कुण्डिनपुर में स्थित राजा भीष्म के अन्तःपुर में पहुँचे वहाँ रुक्मणि को देख "तू द्वारकाधीश श्रीकृष्ण की पटरानी हो" यह आशीर्वाद दे उसका मन श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट कर चल दिये और रुक्मणि का चित्रपट ले श्री कृष्ण के पास पहुँचे। श्रीकृष्ण का अनुराग बढ़ कर चरम सीमा पर पहुँच रहा था, उसी समय रुक्मणि की बुआ का गुप्त पत्र उन्हें मिला। कृष्ण बलभद्र को साथ ले कुण्डिनपुर पहुँचे और नागदेवी की पूजा के बहाने उद्यान में आई हुई रुक्मणि को हरकर ले आये और उससे विधिवत् विवाह कर लिया।[46]

एक दिन नारद ने श्रीकृष्ण से कहा कि विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणि में जम्बूपुर नामक नगर में जाम्बव नाम का विद्याधर रहता है, उसकी जाम्बवती नामकी अत्यन्त रूपवान कन्या मानो साक्षात् लक्ष्मी ही है। वह इस समय सखियों के साथ स्नान करने के लिए गंगा नदी में उतरी है। कृष्ण ने वहाँ जाकर स्नान क्रीड़ा को प्रारम्भ करने वाली जाम्बवती को देखा। दोनों की निगाह मिली और दोनों में प्रेम होगया। फलतः श्रीकृष्ण उस कन्या को हर लाये और उससे विधिवत् विवाह कर लिया।[47]

किसी समय सिंहलद्वीप में सूक्ष्मबुद्धि का धारक श्लक्ष्णरोम नामका राजा रहता था। उसे वश में करने के लिए किसी समय कृष्ण ने अपना दूत भेजा। दूत ने वहाँ आकर और शीघ्र ही वापिस आकर श्रीकृष्ण को उसके प्रतिकूल होने की खबर दी और साथ ही यह भी खबर दी कि उसके उत्तम लक्षणों से युक्त एक लक्ष्मणा नामकी कन्या है। तदन्तर हर्ष से युक्त श्रीकृष्ण बलदेव के साथ वहाँ गये, वहाँ जाकर उन्होंने स्नान के लिए समुद्र में आई हुई दीर्घलोचना लक्ष्मणा को देखा। तदन्तर अपने रूप से उसके चित को हरकर और महाशक्तिशाली द्रुमसेन नामक सेनापति को युद्ध में मारकर श्रीकृष्ण उस रूपवती लक्ष्मणा को हर लाये। द्वारिका में लाकर उसके साथ विधिपूर्वक विवाह किया।[48]

उसी समय सुराष्ट्र देश में एक राष्ट्रवर्धन नामका राजा था। उसके एक सुसीमा नामकी पुत्री थी जो कि उत्तम सीमा से युक्त पृथ्वी के समान जान पड़ती

46. वही, 42/24-56
47. वही, 44/4-16
48. वही, 44/20-24

थीं। सुसीमा के एक भाई था जिसका नाम नमुचि था जो कि पराक्रम में समस्त पृथ्वी में प्रसिद्ध था और माननीय राजाओं का निरंतर तिरस्कार करता था। एक दिन नमुचि और उसकी बहिन सुसीमा दोनों ही स्नान करने के लिए समुद्र तटपर आये। नमुचि की सेना ने प्रभास तीर्थ के तटपर पड़ाव डाला। इधर हितकारी नारद ने कृष्ण को उनके वहाँ होने की सूचना दी। कृष्ण और बलदेव वहाँ पहुँचे और नमुचि को मारकर कन्या सुसीमा का हरण करलाए।[49]

किसी समय सिन्धुदेश के वीतभय नामक नगर में इक्ष्वाकु वंश को बढ़ाने वाला मेरु नामका राजा रहता था उसके एक गौरी नामकी कन्या थी जो गौरवर्ण की थी। निमित्तज्ञानी ने बताया था कि यह नौवें नारायण श्रीकृष्ण की स्त्री होगी। इसलिए इसके वचनों का स्मरण रखने वाले राजा मेरुने पहले तो श्रीकृष्ण के पास दूत भेजा और उसके बाद मृगलोचना गौरी को भेजा श्रीकृष्ण ने मन को हरने वाली गौरी को विवाह कर उसके लिए सुसीमा के भवन के समीप ऊँचा महल प्रदान किया।[50]

उसी समय राजा हिरण्यनाभ अरिष्टपुर नगर में राज्य करते थे। उनके पद्मावती नामकी कन्या थी, उसकी शादी के लिए एक स्वयंवर रचाया गया। जब पद्मावती का स्वयंवर होने लगा तब युद्ध निपुण श्रीकृष्ण हठपूर्वक ले आये और जिन्होंने रण मे शूरवीरता दिखाई और विरोधी सेनाओं को शीघ्र ही नष्ट कर डाला।

उसी समय गान्धार देश की पुष्कलावती नगर में एक इन्द्रगिरि नामका राजा रहता था। उसकी मेरुमती नामकी स्त्री थी। उसके हिमगिरि नामका पुत्र तथा गान्धारी नामकी सुन्दरी पुत्री थी जो गन्धर्व आदि कलाओं में निपुण थी। नारद से श्रीकृष्ण को जब यह विदित हुआ कि गान्धारी का भाई उसे हयपुरी के राजा सुमुख को दे रहा है तब वे शीघ्र ही जाकर रणांगण में प्रतिकूल हिमगिरि को मारकर गान्धारी को हर लाये[52]

कृष्ण का वध

काल बड़ा बलवान् होता है। जो कृष्ण और बलदेव पहले पुण्योदय से लोकोत्तर उन्नति को प्राप्त थे, चक्र, आदि रत्नों से युक्त, बलवान थे, बलभद्र एवं नारायण के धारक थे, वे ही अब पुण्य क्षीण हो जाने से रत्न तथा बन्धुजनों से रहित हो गये, प्राणमात्र ही उनके साथी रह गये और शोक के वशीभूत हो गये।[53]

49. वही, 44:26–30
50. वही, 44:33–36
51. वही, 44:36–42
52. वही, 44:45–48
53. वही, 62:1–2

श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों भ्रमण करते-करते कौशाम्ब वन में पहुँचे, वह विकट वन था, वहाँ पानी का नामोनिशान भी नहीं था। श्रीकृष्ण ने बलदेव से कहा हे आर्य! मैं प्यास से बहुत आकुल हूँ, मेरे होंठ और तालु सूख गये हैं, अब मैं इसके आगे एक डग भी चलने में असमर्थ हूँ। तब बलदेव ने कहा मैं शीतल पानी लाकर अभी तुम्हें पिलाता हूँ। इस प्रकार छोटे भाई कृष्ण से कहकर उसे अपने हृदय में धारण करते हुए बलदेव पानी लेने के लिए चले गये। इधर कृष्ण वृक्ष की छाया में कोमल वस्त्रसे शरीर ढककर सो गये।

शिकार का प्रेमी जरत्कुमार अकेला उस वन में घूम रहा था। वह अपनी इच्छा से उसी समय उस स्थान पर आ पहुँचा। भाग्य की बात देखो कि कृष्ण के स्नेह से भरा जो जरत्कुमार[54] उनके प्राणों की रक्षा की इच्छा से द्वारिका से निकल कर मृग की तरह वन में प्रविष्ट हो गया था वही उस समय विधाता के द्वारा लाकर उस स्थान पर उपस्थित कर दिया गया। जरत्कुमार ने दूर से आगे देखा तो उसे कुछ अस्पष्टसा दिखाई दिया। उस समय कृष्ण के वस्त्र का छोर वायु से हिल रहा था, इसलिए जरत्कुमार को यह भ्रान्ति हो गयी कि यह पास में सोये हुए मृग का कान हिल रहा है। फिर क्या था जरत्कुमार ने तीक्ष्ण बाण का प्रहार किया, तीक्ष्ण बाण कृष्ण के पैर को बेध गया।[55]

जो होना होता है वह होकर ही रहता है जैसी कि नेमिजिनेन्द्र ने आज्ञा की थी कि जरत्कुमार के द्वारा कृष्ण का मरण होगा। उससे बचने के लिए जरत्कुमार ने काफी प्रयत्न किये, यहाँ तक की उसने द्वारिका को भी छोड़ दिया परन्तु कृष्ण का हनन जरत्कुमार के हाथों होना था सो हुआ।[56]

वसुदेव का चरित्र

राजा समुद्रविजय ने अपने आठ भाईयों के विवाह किये। उनमें वसुदेव अत्यन्त सुन्दर थे। जब वे नगर में क्रीड़ार्थ निकलते थे तब नगर की स्त्रियाँ उन्हें देख काम विह्वल हो जाती थीं। इसलिए नगर के प्रतिष्ठित लोग राजा समुद्रविजय के पास गये और निवेदन करने लगे "हे राजन्! आप के राज में हम सभी प्रकार से सुखी हैं। धन धान्य और व्यापार की वृद्धि है। हमें किसी बात की कमी नहीं है, पर हम आपसे अभय मांगते हैं वसुदेव अति सुन्दर और रूपवान् हैं। जब वह शहर में घूमने निकलता है, तब हमारी स्त्रियाँ अपने सब कामोंको छोड़कर उसे देखने

54. जरत्कुमार कृष्ण का छोटा भाई था। वह इस भविष्यवाणी से कि तुम्हारे हाथ से तुम्हारे बड़े भाई कृष्ण की मृत्यु होगी, इसलिए विकट वन में चला गया था।

55. हरिवंशपुराण. 62:18-37

56. वही, 62:38-41

लेभती हैं। घर के सब कामकाज सब चौपट हो जाते हैं। कुछ तो मन भी चलायमान हो जाते हैं। वसुदेव सुचरित्रवान है, उसमें कोई दोष नहीं। पर सूर्य को जैसे किसी से द्वेष नहीं, पर उसकी गर्मी से पित्त की उत्पत्ति हो जाती है वैसे ही यद्यपि कुमार में कोई विकार नहीं है पर उसके रूप लावण्य के अतिशय से स्त्रियों का चित्त चलायमान हो जाता है। अब आप जो उचित समझें करें जिससे कुमार को सुख मिले और नगर की व्याकुलता मिटे ॥[57]

राजाने वसुदेव को समझाने का आश्वासन देकर नगरवासियों को विदा कर दिया और फिर जब वसुदेव बड़े भाई के पास आया, तब राजा ने उसे अपने खाने पीने की सुध रखने और बाहर न घूमते रहने को समझाया। राजा उसे अपने साथ रानी के पास ले गया और महल के उद्यान में ही घूमने को कहा।[58]

एक दिन कुब्जा नामकी एक दासी रानी के लिए सुगन्ध आदि लिये जा रही थी। वसुदेव ने उससे वह सुगन्ध छीनली। तब वह क्रोध से ताना देती हुई कहने लगी "तुम्हारी इन्ही चेष्टाओं के कारण तो तुम्हें यहाँ महल में बन्दी बना रखा है।[59] हमारे प्रति धोखा किया गया है यह जानकर कुमार राजा से विमुख हो गये। वे मन्त्रसिद्धि का बहाना लेकर एक नोकर को साथ लेकर रात्रि के समय शमशान में गये। वहाँ नोकर को एक स्थान पर बैठाकर जब मैं पुकारूँ तब उत्तर देना ऐसा संकेत कर कुछ दूर चले गये। वहाँ एक मुर्दा को अपने आभूषणों से अलंकृत कर तथा उसे एक चिता पर रखकर उन्होंने कहा पिता के समान पूज्य राजा और चुगली करने वाले नगरवासी सन्तुष्ट होकर चिरकाल तक सुखी रहें, मैं अग्नि में प्रविष्ट हो रहा हूँ। इस प्रकार जोर से कहकर तथा दोड़कर अग्नि में प्रवेश किया है, यह दिखाकर अन्तर्हित हो दूर चले गये।

वसुदेव ब्राह्मण का भेष धारण कर पश्चिम की ओर चल पड़े। चम्पापुरी में सेठ चारुदत्त की गन्धर्वसेना पुत्री की संगीतज्ञता की प्रशंसा सुन उसे परास्त करने के लिए सुग्रीव नामक सगीताचार्य के पास संगीत विद्या सीखने लगे। तदनन्तर उन्होंने संगीत के द्वारा परास्त कर उससे विवाह कर लिया।[60]

57. हरिवंशपुराण, 19।15–32
58. वही, 19।33–37
59. ……तव चेष्टितैः । ईदृशैश्चरेव सम्प्राप्तो बन्धनागारमीदृशम् ॥

—हरिवंशपुराण, 19।42

60. वही, 19।122–269

परिभ्रमण करता हुआ विजयखेट नामक नगर पहुँचा, वहाँ क्षत्रियवंश में उत्पन्न गन्धर्वाचार्य रहता था। उस गन्धर्वाचार्य के, रूप में अपनी सानी न रखने वाली सोमा और विजयसेना नामकी दो पुत्रियाँ थी, ये कन्याएं गन्धर्व आदि कलाओं में परम सीमा को प्राप्त थीं। इसलिए उनके पिता सुग्रीव ने अभिमानवश ऐसा विचार कर लिया कि जो इनको गन्धर्वविद्या में जीतेगा वह इनका भर्ता होगा। उनको वसुदेव ने परास्त कर विवाह किया।[61]

घूमते- घूमते वह एक सरोवर के किनारे आया। सरोवर में उसने खूब क्रीडाएं की और किनारे पर बैठ कर जल तरंग को मृदंग के समान बजाया। बाजों की की आवाज सुनकर एक जंगली हाथी जाग उठा और उसने वसुदेव पर आक्रमण किया। परन्तु वसुदेव ने उसे शीघ्र ही वश में कर लिया और उसके कुम्भस्थल पर जा बैठे।[60]

वसुदेव ने यह सुनकर की सोमश्री को जो वेदविद्या में जीतेगा वह ही इसको व्याहेगा, उसे वेदविद्या में जीतने को आतुर हो उठा, पर वह वेदविद्या का जानकार नहीं था। फिर भी वह ब्रह्मविद्या के वेत्ता ब्रह्मदत्त अध्यापक के पास वेदविद्या पढने गया। ब्रह्मदत्त ने पहले तो जैनधर्म के अनुसार भगवान ऋषभदेव से प्रारम्भ होने वाली तदन्तर ब्राह्मणों के अनुसार वेदविद्या की उत्पत्ति बताई। वसुदेव वेदविद्या में पारंगत हो, सोमश्री को जीतकर उससे विवाह किया।[63]

एक समय वसुदेव इन्द्र शर्मा के उपदेश से उद्यान में रात को विद्या सिद्ध कर रहे थे। कुछ धूर्तों ने उन्हें देखा और पालकी में बिठाकर रात में दूर जा डाला। वहाँ से चलते-चलते वे तिलकवस्तु नगर में पहुँचे। वसुदेव उद्यान में जैन मन्दिर के पास सो रहे थे कि एक नरमांस भक्षक पुरुष ने वहाँ आकर उन्हें जगाया। वह कहने लगा हे मानव! तू कौन है? भूख से पीड़ित शेर के समान मेरे मुहँ में तू अपने आपही आ गया है। तदन्तर उन दोनों में भयंकर मुष्टियुद्ध हुआ। वसुदेव ने उसे मुष्टियुद्ध में मारकर प्राण रहित कर दिया।[64]

दधिमुख ने वसुदेव से अपने पिता को बन्धन से छुड़ाने की प्रार्थना की। दधिमुख की प्रार्थना सुन वसुदेव ने युद्ध द्वारा त्रिशिखर को मारा और अपने श्वसुर को बन्धन से मुक्त कराया।[65]

61. वही, 19।53-58
62, वही, 19।62-64
63. वही, 23।28-151
64. वही, 24।1-7
65. वही, 25।1-71

अनेक कन्याओं को विवाहते हुए कुमार वसुदेव अरिष्टपुर आये और वहाँ के राजा रुधिर की पुत्री रोहिणी का स्वयंवर में वरण किया।[66] इससे अनेक राजा कुपित हुए और उन्होंने वसुदेव से युद्ध करने की ठान ली। जरासंध ने राजाओं को बारी-बारी से वसुदेव से लड़ाया। अन्त में समुद्रविजय भी आया, दोनों भाईयों का युद्ध हुआ। वसुदेव ने अपना कौशल दिखलाने के बाद एक पत्र युक्त बाण समुद्रविजय पर छोड़ा जिसे ग्रहण कर समुद्रविजय हर्षित हुए।[67]

नारद

नारद की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है कि सौर्यपुर में सुमित्र नामक तापस और सोमयशा नामक स्त्री से चन्द्रकांति के समान एक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक दिन बालक को वृक्ष के नीचे रखकर वे दोनों उञ्छवृत्ति के लिए चले गये। इतने में जृम्भकदेव पूर्वभव के स्नेह से बालक को वैताढ्य पर्वत पर ले गया। उन्होंने उसका कल्पवृक्षों से उत्पन्न आहार द्वारा भरणपोषण किया। आठ वर्ष की ही अवस्था में उसे जिनागम और आकाशगामिनी विद्या प्रदान की। वही आगे चलकर नारद के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नारद अनेक विद्याओं के ज्ञाता तथा नाना शास्त्रों में निपुण थे। वे साधु के वेश में रहते थे तथा साधुओं के वैयावृत्त्य से संयमासंयम देशव्रत प्राप्त किया था। वे काम को जीतने वाले होकर भी काम के समान विभ्रम को धारण करने वाले थे। कामी मनुष्यों को प्रिय, हास्यस्वभावी, अलोलुपी, चरमशरीरी, नि[illegible] तथा युद्ध प्रिय थे। महान् व्यक्तियों को देखने का कौतूहल होने से लोक में [illegible] परिभ्रमण करते थे।[68]

राजीमती

प्रस्तुत पुराण में राजीमती के केवल एक दो जगह ही प्रसंग आए हैं। जिनमें उनके चरित्र की एक धुमिल सी रेखा ही जान पड़ती है।

राजीमती भोजवंशी राजा उग्रसेन की पुत्री थी। उनका विवाह सौर्यपुर के राजा समुद्रविजय के पुत्र नेमिकुमार के साथ होना निश्चित हुआ। लेकिन जब नेमिनाथ बरात लेकर पाणिग्रहण के लिए जा रहे थे तो रास्ते में उन्हें बाड़ों में बन्धे पशुओं की चित्कार सुनाई दी। उन पशुओं को मार कर बरातियों के लिए भोजन तैयार किया जायगा, यह जानकर नेमिनाथ के हृदय को बहुत आघात पहुँचा। वे उल्टे पैर लौट गये और घर पहुँचकर श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली।

---

67. वही, 31:58–130
68. वही, 42:13–20

राजीमती भी उनको अपना पति मान चुकी थी इसलिए उनका ही पथ ग्रहण करने का निश्चय किया। हालाँकि उनके परिवार-जनों ने उसे बहुत समझाया फिर भी वह नहीं मानी।

नेमिनाथ गिरनार पर्वत के सहस्राम्रवन उद्यान में पहुँच कर तप करने लगे। कालान्तर में राजीमती ने भी उनका अनुगमन किया वह भी वहां पहुँच कर तप में लीन हो गयी।

द्रौपदी

द्रौपदी मुकन्द नगरी के राजा द्रुपद की पुत्री थी। जिसका शरीर रूप लावण्य तथा अनेक कलाओं से अलंकृत था एवं जो अपने सौन्दर्य के विषय में सानी नहीं रखती थी।[69]

राजा द्रुपद ने गाण्डीव नामक धनुष को गोल करने एवं चन्द्रक वेध को वर की परीक्षा का साधन निश्चित किया।[70] इस घोषणा को सुनकर वहाँ कर्ण, द्रोणादि अनेक राजा लोग आए, पर वे अपने लक्ष्य में सफल नहीं हुये।

उसी समय पाण्डव बारह वर्ष का अज्ञातवास करते हुए उस स्वयंवर सभा में आए। अर्जुन ने उस लक्ष्य को बेध दिया। उसी समय द्रौपदी ने आकर वर की इच्छा से अर्जुन की झुकी हुई ग्रीवा में अपने दोनों कर कमलों से वरमाला डाल दी।[71]

द्रौपदी के पांच पति होने का कथन विकृति मात्र

अर्जुन के गाण्डीव चक्र को बेधने पर द्रौपदी ने आकर उसके गले में वरमाला डाल दी। मोके की बात वह टूट गई और हवा के झोंके से पास में खड़ेहुए पाँचों पाण्डवों के शरीर पर जा पड़ी। किसी विवेक हीन चपल मनुष्य ने यह जोर जोर से कहना शुरु कर दिया कि इसने पाँचों राजकुमारों को बरा है।[72]

उपर्युक्त कथन की पुष्टि आगे वर्णित वर्णनों से भी होती है। युधिष्ठिर, भीम द्रौपदी को बहू जैसा मानते थे तथा नकुल और सहदेव माता के समान। द्रौपदी भी युधिष्ठिर एवं भीम को अपने श्वसुर पाण्डु के समान सम्मान देती थी तथा नकुल और सहदेव को देवरों के अनुरूप मानती थी।[73]

द्रौपदी पतिपारायणा—

अर्जुनादि पाण्डव बारह वर्ष का अज्ञातवास करते हुए राजा विराट की विराट नगरी पहुँचे। विराट की रानी सुदर्शना थी।

69. वही, 45।122
70. वही, 45।127
71. वही, 45।131–135
72. वही, 45।133–137
73. वही, 45।150–151

एक दिन चूलिका नगरी का राजकुमार अपनी बहिन सुदर्शना से मिलने के लिए विराटनगर आया। वहाँ उसने द्रौपदी को देखा और उसके विषय में दीनता को प्राप्त हो गया। वह वहाँ से अन्यत्र भी जाता था तो उसका मन द्रौपदी के साथ तन्मयता को प्राप्त रहता था। कीचक ने स्वयं अनेक उपायों से द्रौपदी को लुभाया दूसरों के द्वारा भी अनेक प्रलोभन दिखलाये, पर वह उसके हृदय में स्थिति न प्राप्त कर सका। द्रौपदी उसे तृण के समान तुच्छ समझती थी।[74]

एक दिन नारद पाण्डवों के घर आए। पाण्डवों ने नारद का बहुत सत्कार किया, परन्तु जब वे द्रौपदी के पास गये तो वह उन्हें नहीं जान सकी और अपने में व्यस्त रही। नारद द्रौपदी के इस व्यवहार से रूष्ट हो गये और द्रौपदी को दुःख देने का दृढ़ निश्चय किया। वे निशंक होकर अंग देश की अमरकंकापुरी में पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्त्रीलम्पट पद्मनाभको देखा। राजा पद्मनाभ नारद को आत्मीय जान कर अपना अन्तःपुर दिखाया और पूछा कि ऐसा स्त्रियों का रूप कही अन्यत्र भी देखा है? तदन्तर नारद ने द्रौपदी के रूप लावण्य की प्रशंसा की और द्रौपदी का पता बताकर चले आये।[75]

पद्मनाभ द्रौपदी को लाने के लिए पाताललोक के संगमक नामक देव को भेजा। तदन्तर वह देव सोती हुई द्रौपदी को पद्मनाभ की नगरी मे उठा लाया। राजा पद्मनाभ ने देवागना के समान द्रौपदी को देखा। यद्यपि द्रौपदी अपनी शय्या पर जाग उठी थी और निद्रा रहित हो गई थी तथापि "यह स्वप्न है" इस प्रकार शका करती हुई बार बार सो रही थी। नेत्रों को बन्द करने वाली द्रौपदी का अभिप्राय जानकर राजा पद्मनाभ धीरे से उसके पास आया और कहने लगा कि हे विशाल-लोचने! यह स्वपन नही है यह धातकी खण्ड है और मैं राज पद्मनाभ हूँ। नारद ने मुझे तुम्हारा यह रूप बताया था तथा मेरा आराधित देव मेरे लिए तुम्हें यहाँ लाया है।[76]

ये वचन सुनकर महासती द्रौपदी सोचने लगी अहो! अत्यन्त दुरन्त दुःख आ पड़ा है। जब तक अर्जुन के दर्शन नही होगे तब तक अन्न जल शृंगारादि का त्याग रहेगा। ऐसा कहकर उसने अर्जुन के द्वारा छोड़ने योग्यअपनी वेणी को बाँध ली।[77]

पद्मनाभ को कहने लगी, बलदेव कृष्ण मेरे भाई हैं। धनुर्धारी अर्जुन मेरा पति है। पति के बड़े भाई महावीर भीम अतिशय वीर हैं और पति के छोटे भाई

---

74. वही, 46।26–32
75. वही, 54।4–11
76. वही, 54।12–18
77. वही, 54।19–20

सहदेव और नकुल यमराज के समान हैं। जल और स्थल-मार्ग से उन्हें कोई नहीं रोक सकता। इसलिए हे राजन्! यदि तु अपना कल्याण चाहता है तो सर्पिणी के समान मुझे शीघ्र ही वापस भेज दे। पद्मनाभ ने द्रौपदी का कहना नहीं माना।[78]

तब पतिव्रता ने अपनी बुद्धि से एक उपाय सोचकर कहने लगी कि हे राजन्! मेरे स्वजन—श्वसुरादि और पीहर के व्यक्ति एक मास में यहाँ न आए तो तुम्हारी जो इच्छा हो करना। यह सुनकर ऐसा ही होगा, चुप हो गया। पर वह अपने राजलोक की चतुर स्त्रियों द्वारा द्रौपदी को अपने अनुकूल करने और तरह तरह के प्रिय वचनों से उसे फुसलाने में लगा रहा पर वह सती अपने दृढ़ निश्चय पर रही। अर्जुन के यहाँ से ले जाने पर्यन्त टस से मस नहीं हुई।[79]

—

78. वही, 54।21–24
79. वही, 54।25–71

सप्तम अध्याय

पुराण में दार्शनिक तत्त्व

प्रत्येक संसारी जीव दुःखी है और दुखों से छूटना भी चाहता है, पर उसे पूर्ण मोक्ष का मार्ग ज्ञात न होने से वह दुःखों से छूट नहीं पाता है। समस्त जैनागम में उक्त मोक्षमार्ग बतलाने का प्रयत्न किया गया है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष का मार्ग है।[1] मोक्षमार्ग एवं उसके अन्तर्गत आने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एवं सम्यग्दर्शनादि के भी अन्तर्गत आने वाले जीवादि सप्त तत्त्वादि पर पुराण में यथा स्थान निश्चय-व्यवहार नय से एवं चार अनुयोगों की पद्धति में अपनी शैली में विशिष्ट प्रकार से व्याख्या दी गई है।

सम्यग्दर्शन

जीवाजीवादि तत्त्वार्थों की सच्ची श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है।[2] सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।[3] स्वपर-भेद विज्ञान ही सम्यग्दर्शन है।[4] आत्म श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।[5] उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ शाब्दिक दृष्टि से भिन्न हैं, परन्तु यदि इन्हें गहन दृष्टि से देखा जाय तो मालुम पड़ता है कि सभी का एक ही अभिप्राय है। कहने के ढंग विभिन्न हैं परन्तु सभी का गन्तव्य एक ही है। आचार्य कल्प जिनसेनाचार्य ने इन सब पर विस्तार से विचार कर इनका प्रयोजन स्पष्ट करते हुए इनमें सयुक्ति समन्वय स्थापित किया है।

1. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ तत्त्वार्थसूत्र, 1/1
2. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ तत्त्वार्थसूत्र, 1/2
3. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
   त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 1/4 ॥
4. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 325
5. (क) दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
   स्थितिरात्मनि चारित्रं कुतः एतेभ्यो भवति बन्धः ॥216॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय,
   (ख) अष्टपाहुड (दर्शन पाहुड), गाथा 20

जीवादि सात तत्वों का निर्मल तथा शंका आदि समस्त अन्तरंग मलों के सम्बन्ध से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।[6] वह सम्यग्दर्शन दर्शन मोह रूपी अन्धकार के क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। क्षायिक आदि के भेद से तीन प्रकार का है और निसर्गज तथा अधिगमज के भेद से दो प्रकार है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व है, इनका अपने अपने लक्षणों से सच्चा श्रद्धान करना आवश्यक है।[7]

मोक्ष के मार्ग में सम्यग्दर्शन का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह मुक्ति-महल का प्रथम सोपान है, सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चरित्र का सम्यक् होना सम्भव नहीं है।[8] जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम सम्भव नहीं है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम मोक्ष) होना सम्भव नहीं है।[9] सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है जो इससे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट ही है, उसको मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं है।[10]

अधिक क्या कहें ? जो महान् पुरुष अतीतकाल में मोक्ष गये है और भविष्य में जायेगें, वह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है।[11] अतः यह ठीक ही कहा गया है कि प्राणियों का इस जगत् में सम्यग्दर्शन के समान हितकारी और मिथ्य दर्शन के समान अहितकारी कोई अन्य नहीं है।[12]

जैनागमों में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सप्त तत्व कहे गये हैं।[13] सामान्य रूप से जीव और अजीव ये दो ही तत्व हैं। आस्रवा-

---

6. सम्यग्दर्शनमत्रेष्ट तत्वश्रद्धानमुज्जवलम्।
   व्यपोढसंशयाद्यन्तर्निशेषमलसङ्करम्॥ हरिवंशपुराण, 58।19
7. हरिवंशपुराण, 58।20-21
8. मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
   सम्यक्ता न लहै सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा॥—छहढाला, 3।17
9. विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थिति वृद्धि फलोदयाः।
   न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ 32॥
   — रत्नकरण्ड श्रावकाचार
10. दसण भट्टा भट्टा दसणभट्टस्सणत्थि णिव्वाणा॥3॥
11. किं बहुणा भणिणं जे सिद्धा णवरा गये काले।
    सिज्झहहि जे वि भविया, तंजाणइ सम्ममाहप्पं॥
    —अष्टपाहुड (मोक्षपाहुड़), गाथा 88
12. न सम्यक्त्वसमं किंचित्काल्ये त्रिजगत्यपि।
    श्रेयो श्रेयश्च मिथ्यात्वसम नान्यत्तनूभृताम्॥
    — रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 34
13. जीवाजीवास्रव बंधसंवर निर्जरामोक्षास्तत्वम्॥ तत्वार्थसूत्र, 1।4

दिक तो जीव अजीव के ही विशेष हैं।[14] इनका सच्चा स्वरूप क्या है? और जिनसेनाचार्य के अनुसार एक अज्ञानी जीव इनके जानने में क्या क्या और कैसी भूलें करता है, उनका संक्षेप में पृथक् पृथक् वर्णन अपेक्षित है।

जीव तत्व

जीव का लक्षण उपयोग है और वह उपयोग आठ प्रकार का है। उपयोग के आठ भेदों में मति, श्रुत और अवधि ये तीन, सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान दोनों रूप होते हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न सुख और दुःख ये सब चिदात्मक हैं ये ही जीव के लक्षण हैं क्योंकि इनसे ही चेतन्यरूप जीव की पहिचान होती है[15]

पृथ्वी आदि भूतों की आकृति मात्र को जीव नहीं कहते, क्योंकि वह तो इसके शरीर की अवस्था है। शरीर का चैतन्य के साथ अनेकान्त है अर्थात् शरीर यहीं रहा आता है और चैतन्य दूर हो जाता है। आटा किण्व तथा पानी आदि मदिरा के अंगों में मद उत्पन्न करने वाली शक्ति का अंश पृथक् होता है परन्तु शरीर के अवयवों में चैतन्य शक्ति पृथक् नही होती।

जो पृथ्वी आदि चार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति मानते हैं उनके मत में बालु आदि से तैल की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति क्यों नहीं मानली जाती है? भावार्थ—जिस प्रकार बालु आदि से तेल की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार पृथ्वी आदि चार भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

यह जीव इस संसार में अनादिनिधन है, निजकर्म परवश हुआ यह यहाँ दूसरी गति से आता है और कर्म में परवश हुआ दूसरी गति को जाता है।

जीव स्वयं द्रव्य रूप है, ज्ञाता है, दृष्टा है, कर्त्ता है, भोक्ता है, कर्मों का नाश करने वाला है उत्पाद-व्यय रूप है, सदा गुणों से सहित है, असंख्यात प्रदेशी है, संकोच विस्तार रूप है और शरीर प्रमाण है और वर्णादि बीस गुणों से रहित है[16]

14· द्रव्य संग्रह गाथा 28–29

15· जीवस्य लक्षणं लक्ष्यमुपयोगोऽष्टधा स च।
मतिश्रुतावधिज्ञानतद्विपर्ययपूर्वकः ॥
इच्छा द्वेषः प्रयत्नश्च सुखं दुःखं चिदात्मकं।
आत्मनोलिंगमेतेन निर्णयते चेतनो यतः ॥
—हरिवंशपुराण, 58।22–23

16. द्रव्यभूतः स्वयं जीवो ज्ञाता द्रष्टास्ति कारकः।
भोक्ता मोक्ता व्ययोत्पादध्रौव्यवान् गुणवान् सदा ॥
असंख्यातप्रदेशात्मा ससंहारविसर्पणः।
स्वशरीरप्रमाणस्तु मुक्तवर्णादिविंशतिः ॥ —हरिवंशपुराण, 58।30–31

आचार्य जिनसेन ने सामान्य-रूप से सिद्ध और संसारी के भेद से दो भेद किये हैं, ये दोनों ही भेद उपयोग रूप लक्षण से युक्त हैं और विशेष की अपेक्षा दोनों ही अनन्तानन्त भेदों को धारण करने वाले हैं।[17]

यह जीव गति, इन्द्रिय, छहकाय, योगवेद, कषाय ज्ञान, संयम, सम्यक्त्व, लेश्या, दर्शन संज्ञित्व, भव्यत्व और आहार इन चौदह मार्गणाओं से खोजा जाता है। प्रमाण नय निक्षेप सत् संख्या और निर्देश आदि से संसारी जीव का तथा अनन्तज्ञान आदि आत्मगुणों से मुक्त जीव को जाना जाता है।[18]

अजीव तत्त्व

ज्ञान-दर्शन स्वभाव से रहित तथा आत्मा से भिन्न समस्त द्रव्य अजीव हैं, किन्तु जीव के संयोग में रहने वाले अजीवों के समझने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

अजीव द्रव्यों के पांच भेद बताये गये हैं।—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।[19] इनमें पूर्व के चार अस्तिकाय और काल को अनास्तिकाय कहते हैं।[20] इनमें रूपवान् द्रव्य पुद्गल हैं और शेष सब अरूपी हैं जितने भी मूर्तिमान् पदार्थ विश्व में दिखाई देते हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य के ही नानारूप हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों तत्व तथा वृक्षों, पशु-पक्षी आदि जीवों व मनुष्यों के शरीर, ये सब पुद्गल के ही रूप हैं। पुद्गल का सूक्ष्मतम रूप परमाणु है, जो अत्यन्त लघु होने के कारण इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता। अनेक परमाणुओं के संयोग से उनमें परिमाण उत्पन्न होता है और उनमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये चार गुण प्रकट होते हैं। तभी वह पुद्गल स्कन्ध इन्द्रिय ग्राह्य होता है। शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, अन्धकार छाया व प्रकाश ये सब पुद्गल द्रव्य के ही विकार माने गये है।

17. सिद्धः सिद्धेतरश्च द्वौ सामान्यादुपयोगिनौ।
जीवभेदौ विशेषात्तावनन्तानन्तभेदिनौ॥
हरिवंशपुराण, 3/66
18. स गतीन्द्रियषट्काययोगवेदकषायतः।
ज्ञानसंयमसम्यक्त्वलेश्यादर्शनसंज्ञिभिः॥
भव्यत्वाहारपर्यन्तमार्गणाभिः स मृग्यते।
चतुर्दशभिराख्यातो गुणस्थानैश्च चेतनः
प्रमाणनयनिक्षेपसत्संख्यादिकिमादिभिः।
संसारी प्रतिपत्तव्यो मुक्तोऽपि निजसद्गुणैः —हरिवंशपुराण, 58/36–38
19. धर्माधर्मौ तथाकाशं पुद्गलः काल एव च।
पंचाप्यजीवतत्त्वानि सम्यग्दर्शनगोचराः॥ —हरिवंशपुराण, 58/53
20. तत्त्वार्थसूत्र, 5/5

पुद्गलों का स्थूलतम रूप महान् पर्वतों व पृथ्वीयों के रूप में दिखाई देता है। इससे लेकर सूक्ष्मतम कर्म-परमाणुओं तक पुद्गल द्रव्य के असंख्यात भेद और रूप पाये जाते हैं। पुद्गल स्कन्धों का भेद और संघात निरंतर होता रहता है और इसी पूरण और गलन के कारण इनका पुद्गल नाम सार्थक होता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य क्रम से गति और स्थिति के निमित्त हैं, अर्थात् धर्म द्रव्य जीव और पुद्गल के गमन में निमित्त है तथा अधर्म द्रव्य उन्हीं की स्थिति में निमित्त है। आकाश जीव और अजीव दोनों द्रव्यों के अवगाह में निमित्त है। जो वर्तना लक्षण से सहित है वह काल द्रव्य है इसके समय आदि अनेक भेद हैं। परिवर्तनरूप धर्म से सहित होने के कारण काल द्रव्य परत्व और अपरत्व व्यवहार से युक्त है।[21]

आस्रव तत्त्व

जिनसेनाचार्य के अनुसार काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं, वह योग ही आस्रव कहलाता है अर्थात् काययोग, वाग्योग और मनोयोग के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में एक परिस्पन्दन होता है, जिसके कारण आत्मा में एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसमें उसके आसपास भरे हुए सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल परमाणु आत्मा से आ चिपटते हैं। इसी आत्मा और पुद्गल परमाणुओं के सम्पर्क का नाम आस्रव है। आस्रव के शुभ और अशुभ के भेद से दो भेद हैं।[22]

आस्रव के दो स्वामी हैं। सकषाय (कषाय सहित) और अकषाय (कषाय रहित) इसी प्रकार आस्रव के दो भेद हैं—साम्परायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव। मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सूक्ष्म कषाय गुणस्थान तक के जीव कषाय हैं और वे प्रथम साम्परायिक आस्रव के स्वामी है तथा उपशान्त कषाय को आदि लेकर संयोग-केवली तक के जीव अकषाय है और ये अन्तिम ईर्यापथ आस्रव के स्वामी हैं।[23]

21. गतिस्थित्योर्निमित्तं तौ धर्माधर्मौ यथाक्रमम्।
    नभोऽवगाहहेतुस्तु जीवाजीवद्वयोस्सदा॥
    पूरणं गलनं कुर्वन् पुद्गलोऽनेकधर्मकः।
    सोऽणुसंघाततः स्कन्धः स्कन्धभेदादणुः पुनः॥
    वर्तनालक्षणो लक्ष्यः समयादिरनेकधा।
    कालः कलनधर्मेण सपरत्वापरत्वकः॥ —वही, 58।4-56
22. कायवाङ्मनसां कर्मयोगः स पुनरास्रवः।
    शुभः पुण्यस्य गण्यस्य पापस्याशुभलक्षणः॥ —वही, 58।57
23. हरिवंशपुराण, 58।58-59

बन्ध तत्व

कषाय से कलुषित जीव प्रत्येक क्षण के कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वही बन्ध कहलाता है।[24] जीव की रागादिकरूप अशुद्धता के निमित्त से आये हुए कर्म वर्गणाओं का ज्ञानावरणादि रूप स्वस्थिति सहित अपने रस संयुक्त आत्म प्रदेशों से सम्बन्ध रूप होना बन्ध तत्व कहलाता है।[25]

मोह-राग द्वेष भावों का निमित्त पाकर कर्माणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ दुध पानी की तरह एकमेक हो जाना बन्ध है यह भी दो प्रकार का होता है—द्रव्य बन्ध और भाव बन्ध। आत्मा के जिनशुभाशुभ विकारी भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है उन भावों को भाव बन्ध कहते हैं और ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होना द्रव्यबन्ध है।[26] जिनसेनाचार्य लिखते हैं—

सामान्यतः बन्ध चार प्रकार के होते हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से। प्रकृति का अर्थ स्वभाव होता है, जिस प्रकार नीम आदि की प्रकृति तिक्तता आदि है, उसी प्रकार समस्त कर्मों की अपनी-अपनी प्रकृति नियत रूप से स्थित है। जैसे ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति अज्ञान अर्थात् पदार्थ का ज्ञान नहीं होने देता है, दर्शनावरण कर्म की प्रकृति पदार्थों का अदर्शन अर्थात् दर्शन नहीं होने देना है। कर्मों में जितने काल तक जीव के साथ रहने की शक्ति उत्पन्न होती है, उसे कर्म स्थिति कहते हैं। उनकी तीव्र या मन्द फलदायिनी शक्ति का नाम अनुभाग है। तथा आत्मप्रदेशों के साथ कितने कर्म परमाणुओं का बन्ध हुआ इसे प्रदेश बन्ध कहते हैं।[27]

संवर तत्व

जिनसेन ने भी आस्रव की यही परिभाषा दी है जो तत्वार्थ सूत्र में दी गई है—आस्रव का रुकना संवर है।[28] यह दो प्रकार का होता है—भाव संवर और

24, कषायकलुषो ह्यात्मा कर्मणो योग्यपुद्गलान्।
प्रतिक्षणमुपाददते स बन्धो नैकधा मतः॥ वही, 58।202

25 पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 1953, पृष्ठ 17

26. (क) द्रव्य संग्रह गाथा 32
(ख) समयसार गाथा 254 से 256 तथा
समयसार कलश, बंधाधिकार

27. हरिवंशपुराण, 58।202–298

28. आस्रवनिरोध संवरः परिभाष्यते।
(ख) आस्रवस्य निरोधस्तु संवरः॥ तत्वार्थ सूत्र 9।1
स भावद्रव्यभेदाभ्यां द्विविधेन निरूप्यते॥ —वही, 58।299

द्रव्य संवर। संसार की कारणभूत क्रियाओं का रुक जाना भाव-संवर और कर्मों का आना और रुक जाना द्रव्य-संवर है।[29] यह संवर तीन गुप्तियों,[30] पाँच समितियों[31] दशधर्म,[32] बारह अनुप्रेक्षायें,[33] पाँच चारित्र,[34] और बाईस परिषहजयों,[35] से होता है।[36]

29. (क) द्रव्य संग्रह गाथा 34
(ख) क्रियाणां भवहेतूनां निवृत्तिर्भावसंवरः।
तत्कर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः॥
—हरिवंशपुराण, 58।300
(ग) तत्र संसारनिमित्तक्रिया निवृत्तभावसंवरः।
तन्निरोधे तत्पुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः॥
— सर्वार्थसिद्धि
30. (क) सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः॥ तत्वार्थ सूत्र, 9।4
(ख) नियमसार, कुन्दकुन्दाचार्य, गाथा 69-70
31. (क) इर्याभाषैणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः॥ तत्वार्थ सूत्र, 9।5
(ख) मोक्षमार्ग प्रकाशक, देहली, पृष्ठ 335
(ग) नियमसार गाथा 61
(घ) मोक्षमार्ग प्रकाशक, सोनगढ़, पृष्ठ 334–335
(ङ) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा 302 का भावार्थ
32. (क) उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः॥ —तत्वार्थ सूत्र, 9।6
(ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 204
33. (क) अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा।
लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः॥ — तत्वार्थ सूत्र, 9।7
(ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 205
(ग) कुन्दकुन्दाचार्य : द्वादशानुप्रेक्षा
34. (क) सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति चारित्रम्॥ —तत्वार्थ सूत्र, 9।18
(ख) मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 341, 337
(ग) परमात्मप्रकाश, पृष्ठ 142, 2।14 की संस्कृत टीका
(घ) समयसार गाथा 154
(ङ) नियमसार, 125–133
(च) सर्वार्थसिद्धि, अध्याय 7, पृष्ठ 5–7
35. (क) तत्वार्थसूत्र, 8।8–9
(ख) पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय 207।208
(ग) समयसार, 372–382
36. त्रिसंख्या गुप्तयः पंचसंख्याः समितयस्तथा।
दशद्वादशधर्मानुप्रेक्षाश्चारित्रपंचकम्॥
द्वाविंशतिभिदा भिन्नपरिषहजयोऽपि च।
हेतवः संवरस्यैते सप्रपंचाः समन्विताः॥—हरिवंशपुराण, 58।301–302

गुप्ति तीन प्रकार की होती है—मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति। समिति पाँच प्रकार की होती है। ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापना समिति। धर्म दश प्रकार के होते हैं—उत्तमक्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य। अनुप्रेक्षायें बारह प्रकार की होती हैं—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म। चारित्र पाँच प्रकार का होता है—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, और यथाख्यात। परीषहजय बाईस हैं क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमसक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या निषधा, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन। इन सबका वर्णन जैन दर्शन में विस्तार से प्राप्त होता है।

निर्जरातत्त्व

जीव के शुद्धोपयोग के बल से पूर्वसंचित कर्मवर्गणाओं के एकोदेश नाश होने को निर्जरा कहते है।[37] अर्थात् आत्मा से बंधे कर्मों का झड़ना निर्जरा है। इसके भी दो भेद हैं- द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा। आत्मा के जो भाव कर्म झरने हेतु हैं, वे भाव ही भावनिर्जरा हैं और कर्मों का झड़ना द्रव्य-निर्जरा है।[38]

चैतन्यस्वभावी त्रैकाली ध्रुव आत्म तत्व के आश्रय से होने वाली अकषाय भावरूप शुद्धि की वृद्धि ही निर्जरा तत्व है। निर्जरा संवर पूर्वक ही होती है।

विपाकजा और तप से कर्मों की निर्जरा होती है।[39] इच्छाओं का निरोध तप है।[40] इसे यदि अस्ति रूप में कहें तो चैतन्य स्वरूप मे निस्तरंग स्थिरता ही तप है।[41] इस निर्जरा में एक तो विपाकजा और दूसरी अविपाकजा है। संसार में भ्रमण करने वाले जीव का कर्म जब फल देने लगता है तब क्रमसे उसकी निवृत्ति होती है यही विपाकजा निर्जरा कहलाती है और जिस प्रकार आम आदि फलों को उपाय द्वारा असमय में ही पका लिया जाता है। उसी प्रकार उदयावली में अप्राप्त कर्म की तपश्चरण आदि उपाय से निश्चित समय से पूर्व ही उदीरणा द्वारा जो शीघ्र ही निर्जरा की जाती है उसे अविपाकजा निर्जरा कहते है।[42]

37. वृ॰ 953, पृष्ठ 17
38. द्रव्य संग्रह, 36
39. कर्मणोऽनुभवात्तस्मात्तपसश्चापि निर्जरा।
    विपाकजा तु तत्रैका परा चाप्यविपाकजा॥ —हरिवंशपुराण, 58/293
40. इच्छानिरोधस्तपः॥ मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ 230
41. स्वरूपविश्रान्तनिस्तरंग चैतन्यप्रतपनात् तपः॥
    —प्रवचनसार गाथा 14 की 'तत्त्वदीपिका' टीका
42. हरिवंशपुराण, 58/293-295

मोक्षतत्त्व

आत्मा का परम उद्देश्य मोक्ष होता है (कैवल्य प्राप्त करना होता है)। संसार के आवागमन से छुटकारा पाना ही मोक्ष है और यह सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से प्राप्त किया जा सकता है।[43] जीव के सर्वथा नाश होने और निज स्वभाव को प्रगट होने को मोक्ष कहते हैं।[44] जिनसेनाचार्य अपने शब्दों में इस प्रकार कहते हैं—'निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक मुनि के बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा जो समस्त कर्मों का अत्यन्त क्षय होता है मोक्ष कहलाता है।[45]

मोक्ष भी दो प्रकार का होता है। द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। आत्मा के जो शुद्ध भाव कर्म बन्धन से मुक्त होने में हेतु होते हैं वे भाव ही भावमोक्ष हैं और आत्मा का द्रव्य कर्मों से मुक्त हो जाना द्रव्यमोक्ष है।[46]

आत्मा की सिद्ध अवस्था का नाम ही मोक्ष है। सिद्ध दशा आनन्दमय है, वह आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द है, उस अलौकिक आनन्द की तुलना लौकिक इन्द्रियजन्य आनन्द से नहीं की जा सकती है, पर संसारी आत्मा को उक्त अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद तो कभी प्राप्त हुआ नहीं। अतः उस आनन्द की कल्पना भी वह लौकिक इस इन्द्रियजन्य आनन्द से करता है, निराकुलता रूप मोक्ष दशा को नहीं पहिचान पाता है।

पुण्य-पाप तत्त्व

सातावेदनीय, शुभआयु-शुभनाम और शुभगोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ है।[47] इन प्रकृतियों से अन्य अर्थात् असातावेदनीय, अशुभआयु, अशुभनाम, अशुभगोत्र ये पाप प्रकृतियाँ है।[48]

आचार्य जिनसेन ने पुण्य और पाप की व्याख्या करते हुए बताया है कि कर्म-बन्ध पुण्यबन्ध और पापबन्ध के भेद से दो प्रकार का है, उनमें शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्र और सद्वेद्य ये चार पुण्यबन्ध के भेद हैं और शेष कर्मबन्ध पाप बन्ध है।[49]

---

43. लेखक का लेख, मोक्ष इन जैनीज्म, जैन जरनल-अप्रेल 1975
44. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, 1953, पृष्ठ 17
45. बन्धहेतोरभावाद्धि निर्जरातश्च कर्मणाम्।
    कार्त्स्न्येन विप्रमोक्षस्तु मोक्षो निर्ग्रन्थरूपिणः॥

    — हरिवंशपुराण 58/303
46. द्रव्य संग्रह गाथा 37
47. सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्॥

    — तत्त्वार्थ सूत्र, 8:25
48. शुभायुर्नामगोत्राणि सद्वेद्य च चतुर्विधः।
49. शुभायुर्नामगोत्राणि सद्वेद्य चतुर्विधः।
    पुण्यबन्धो उन्यकर्माणि पापबन्धः प्रपंचितः॥

    —हरिवंशपुराण, 58:208

समयसार में पुण्य-पाप का कथन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि अशुभकर्म कुशील हैं और शुभकर्म सुशील हैं। किन्तु जो संसार में प्रवेश करता है वह सुशील कैसे हो सकता है? जैसे सोने की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है और लोहे की बेड़ी भी उसे बाँधती है इसी तरह शुभ और अशुभ कर्म भी जीव को बांधते हैं।[50]

क्योंकि पाप-पुण्य दोनों ही बन्ध हैं अतः पाप की तरह पुण्य भी हेय है और अशुभोपयोग की तरह शुभोपयोग भी हेय है। एक मात्र मोक्ष सुख और उसका कारण शुद्धोपयोग ही उपादेय है।

किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कोई पापारम्भ का छोड़े बिना और शुभोपयोग के अपनाये बिना शुद्धोपयोग की भूमिका में पहुँच सकता है? जो ऐसा मानता है कि पापारम्भ के छोड़े बिना और शुभोपयोग के अपनाये बिना भी शुद्धोपयोग हो सकता है वह निश्चय ही अनन्त संसारी है। शुद्धोपयोग की भूमिका में पहुँचने के लिए पापारम्भ को छोड़कर शुभोपयोग अपनाना पड़ता ही है किन्तु जो शुभोपयोग की भूमिका में पहुँचकर अपने को कृतकृत्य मान बैठे और उससे उपार्जित पुण्य में ही रमजाये तो उसका उद्धार नहीं हो सकता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है कि पापारम्भ को छोड़कर और शुभचर्या में उद्यत होकर यदि मोह आदि को नही छोड़ता है तो शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।[51]

सम्यग्ज्ञान

ज्ञान आत्मा का गुण है, जानना उसकी पर्याय अर्थात् कार्य है। सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादर्शन से युक्त ज्ञान का मिथ्यादर्शनज्ञान या मिथ्याज्ञान कहते हैं। ज्ञान का सम्यक् और मिथ्यापन का निर्णय लौकिक विषयों की सामान्य जानकारी की सच्चाई पर आधारित न होकर सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की उपस्थिति के आधार पर होता है।

सम्यक्त्व के द्वारा सम्यग्दर्शन की साधना हो जाने पर मोक्षमार्ग पर बढ़ने के लिए दूसरी साधना ज्ञानोपासना है। सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन जीवादि तत्त्वों में श्रद्धान् उत्पन्न हुआ है उनकी विधिवत् यथार्थ जानकारी प्राप्त करना ज्ञान है। दर्शन और ज्ञान में सूक्ष्म भेद की रेखा यह है कि दर्शन का क्षेत्र है अन्तरंग और ज्ञान का क्षेत्र है बहिरंग। दर्शन आत्मा की सत्ता का भान कराता है और ज्ञान बाह्य पदार्थों का बोध उत्पन्न करता है। दोनों में परस्पर सम्बन्ध कारण और कार्य का है। जब तक आत्मावधान नहीं होगा, तब तक बाह्य पदार्थों का इन्द्रियों से सन्निकर्ष होने पर

50. समयसार गाथा 145-149

51. चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
ण जहदि जदि मोहादि ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं॥ —समयसार, 79

भी बोध नहीं हो सकता। अतएव दर्शन की जो सामान्य ग्रहण रूप परिभाषा की गई है उसका तात्पर्य आत्मचैतन्य की उस अवस्था से है जिसके होने पर मन के द्वारा वस्तुओं का ज्ञानरूप ग्रहण सम्भव है। यह चैतन्य व अवधान पर-पदार्थ-ग्रहण के लिए जिन विशेष इन्द्रियों मानसिक व आध्यात्मिक वृत्तियों को जागृत करता है उनके अनुसार इनके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

चक्षु इन्द्रिय पर-पदार्थ के स्पर्श किये बिना निर्दिष्ट दूरी से पदार्थ को ग्रहण करती है। अतएव इस इन्द्रिय ग्रहण को जागृत करने वाली चक्षुदर्शन रूप वृत्ति उन शेष अचक्षु दर्शन से उद्बुद्ध होने वाली इन्द्रिय वृत्तियों से भिन्न है, जो वस्तुओं का श्रोत्र, घ्राण जिह्वा व स्पर्श इन्द्रियों से अविरल सन्निकर्ष होने पर होता है। इन्द्रियों के अगोचर, सूक्ष्म तिरोहित या दूरस्थ पदार्थों का बोध कराने वाले अवधिज्ञान के उद्भावक आत्म चैतन्य का नाम अवधिदर्शन है, और जिस आत्मावधान के द्वारा समस्त ज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति जागृत होती है, उस स्वावधान का नाम केवल दर्शन है।

सम्यग्ज्ञान की परिभाषायें आगम मे अनेक प्रकार से उपलब्ध होती हैं—

1. जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ अवस्थित है, उस प्रकार से उनका जानना, सम्यग्ज्ञान है।[52]

2 जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता-रहित, अधिकता-रहित, विपरीतता रहित, जैसा का तैसा सन्देह रहित जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते है।[53]

3. आत्मा और अनात्मा का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।[54]

4. आत्मस्वरूप का जानना ही सम्यग्ज्ञान है।[55]

5. जीवादि सप्त तत्वों का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।[56] परस्पर विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे वह सीप है या चांदी ? विपरीत एक कोटि के निश्चय करने वाले ज्ञान

52. सर्वार्थसिद्धि, 1|1

53. अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
नि: सन्देहं वेद यदा हुस्तज्ज्ञानमागमिन:॥ —रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 42

54. संसय विमोह विब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयमेयं तु॥ —द्रव्य संग्रह, गाथा 42

55. आपरूप का जानपनै:, सो सम्यग्ज्ञान कला है। —छहढाला, 3|2

56. कर्तव्योऽध्यवसाय: सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्॥ —पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, 35

को विपर्यय कहते हैं—जैसे सीप को चांदी जान लेना। 'यह क्या है?' या 'कुछ है' केवल इतना अरुचि और अनिर्णय पूर्वक जानने को अनध्यवसाय कहते हैं जैसे—मार्ग में कुछ होगा।[57]

उपर्युक्त सम्यग्ज्ञान की जितनी भी परिभाषायें हैं उन सब में कोई अन्तर नहीं है। ये मात्र भिन्न-भिन्न प्रकरणों में विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखी गई हैं। सबसे यह तथ्य फलित होता है कि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीवादि पदार्थों का विशेषकर आत्मतत्त्व का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। लौकिक पदार्थों के ज्ञान से इसका कोई प्रयोजन नहीं है।

ज्ञान पाँच प्रकार का होता है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान। सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुत और अवधि ज्ञान क्रमशः सुमति, सुश्रुत और सुअवधि कहे जाते हैं तथा मिथ्या दृष्टि के कुमति, कुश्रुत, कुअवधि कहे जाते हैं। मनःपर्यय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं, इसलिए उनमें इस प्रकार का भेद नहीं होता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के पाँच और मिथ्यादृष्टि के तीन कुल ज्ञान आठ प्रकार के होते हैं।[58] इनमें सम्यग्दृष्टि के होने वाला पाँच प्रकार का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।[59] इनका विस्तृत विवेचन जिन-शास्त्रों में उपलब्ध है।

मतिज्ञान

ज्ञेय पदार्थ और इन्द्रिय विशेष का सन्निकर्ष होने पर मन की सहायता से जो वस्तुबोध उत्पन्न होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।[60] इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से अभिमुख और नियमित पदार्थ को जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिक (मतिज्ञान) ज्ञान कहते है।[61] जबकि जिनसेनाचार्य ने इसे इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—पाँच इन्द्रियों तथा मन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे

57. न्यायदीपिका, 2
58. (क) आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि ज्ञानानि पंच भेदानि।
कुमतिश्रुतविभंगानि च त्रीण्यपि ज्ञानैः संयुक्तानि॥
—पंचास्तिकाय गाथा 41
(ख) णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओहि अणाणणाणि।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च॥ —द्रव्य संग्रह गाथा 5
(ग) गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 300-301
59. मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि ज्ञानम्॥ —तत्त्वार्थ सूत्र, 1.9
60. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, हीरालाल जैन, 1962, पृष्ठ 244
61. अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदि इंदियजम्।
अवग्गहईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं॥ —गोम्मटसार जीवकाण्ड 305

मतिज्ञान कहते हैं ।[62] मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार का होता है ।[63]

पदार्थ और इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर मन की सचेत अवस्था में जो अनिश्चय "कुछ है" ऐसा बोध होता है, वह अवग्रह कहलाता है ।[64] अवग्रह के दो भेद हैं—एक व्यंजनावग्रह दूसरा अर्थावग्रह । जो प्राप्त अर्थ के विषय में होता है उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं और जो अप्राप्त अर्थ के विषय में होता है उसे उसे अर्थावग्रह कहते हैं और ये पहले व्यंजनावग्रह पीछे अर्थावग्रह इस क्रम से होते हैं ।[65] उस अस्पष्ट वस्तु बोध के सम्बन्ध में विशेष जानने की इच्छा का नाम ईहा है । उसके फलस्वरूप वस्तु का जो विशेष अवबोध होता है वह अवाय, और उसके कालान्तर में भी स्मरण करने रूप संस्कार का नाम धारणा है ।[66]

अवग्रह आदि चारों भेद पांच इन्द्रिय और मन छह के द्वारा होते हैं । इसलिए चार में छह का गुणा करने से मतिज्ञान के चौबीस भेद होते हैं । इन चौबीस भेदों में शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श से होने वाले व्यंजनावग्रह के चार भेद मिलाने से मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद हो जाते हैं इस प्रकार चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस के भेद में मतिज्ञान के भेदों की प्रारम्भ में तीन राशियां होती हैं, उनमें क्रम से बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव इन छः पदार्थों का गुणा करने पर 144, 168 तथा 192 भेद होते हैं । यदि बहु आदि छः तथा इनसे विपरीत एक आदि छह इन बारह भेदों को उक्त तीन राशियों में गुणा किया जावे तो दोसौ अट्ठासी, तीनसौ छत्तीस और तीन सौ चौरासी भेद होते हैं । इस प्रकार जिनसेन ने इन्द्रिय जन्य ज्ञान का बड़ा सूक्ष्म चिन्तन और विवेचन किया है ।[67]

श्रुतज्ञान

मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान नियम से मतिज्ञान पूर्वक होता है । इस श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक, अनाक्षरात्मक,

62. (क) इन्द्रियानिन्द्रियोत्थं स्यान्मतिज्ञानमनेकधा ।
परोक्षमर्थसान्निध्ये प्रत्यक्षं व्यवहारिकं ।। — हरिवंशपुराण, 10।145
(ख) तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।। — तत्त्वार्थसूत्र, 1।14
63. अवग्रहेहावायधारणाः ।। — तत्त्वार्थसूत्र, 1।15
64. हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, 1962, पृष्ठ 244
65. वेंजणअत्थअवग्गहभेदा हु हवंति पत्तपत्तत्थे ।
कमसो ते वावरिदा पढमं ण हि चक्खुमणसाणं ।। —गोम्मटसार जीवकाण्ड,307
66. (क) हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, 1962, पृष्ठ 244
(ख) गोम्मटसार जीवकाण्ड 307–308
67. हरिवंशपुराण, 10।147–150

इसतरह अथवा शब्द जन्य श्रुतज्ञान है। अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यात-भागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि इन लेकर उत्कृष्ट स्थान षट् स्थानपतित वृद्धि की अपेक्षा से अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के सबसे जघन्य स्थान से पर्यन्त असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं। द्विरूप वर्गधारा में छठे वर्ग का जितना प्रमाण है उसमें एक कम करने से जितना प्रमाण बाकी रहे उतना ही अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का प्रमाण है। पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिकसमास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास पूर्व इसतरह श्रुतज्ञान के बीस भेद है।[68]

अवधिज्ञान

आत्मा में एक ऐसी शक्ति मानी गई है जिसके द्वारा उसे इन्द्रियों के अगोचर अतिसूक्ष्म, तिरोहित व इन्द्रिय सन्निकर्ष के परे दूरस्थ पदार्थों का भी ज्ञान हो सकता है। इस ज्ञान को अवधिज्ञान कहा गया है।[69] अवधिज्ञान कर्म के क्षयोपशम से जीव में शुद्धि होने पर देशावधि, सर्वावधि और परमावधि से तीन प्रकार का होता है। यह अवधि-ज्ञान देश-प्रत्यक्ष है तथा पुद्गल द्रव्य को विषय करता है।[70]

मनःपर्ययज्ञान

मनःपर्ययज्ञान द्वारा दूसरे के मन में चिन्तित पदार्थों का बोध होता है। मनः पर्ययज्ञान भी देश प्रत्यक्ष ही है। इसके विपुलमति और ऋजुमति के भेद से दो भेद है तथा यह अवधिज्ञान की अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थ को विषय करता है।[71]

केवलज्ञान

अन्तिमज्ञान केवलज्ञान है यह केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से होता है, सर्व प्रत्यक्ष है, अविनाशी है और समस्त पदार्थों का जानने वाला है। परोक्ष प्रमाण का फल हेय पदार्थ को छोड़ने और उपादेय पदार्थ को ग्रहण करने की बुद्धि उत्पन्न होना है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण का फल उपेक्षा और राग-द्वेष का अभाव एवं उसके पूर्व मोह का क्षय होना है। मतिज्ञानादि चार ज्ञान परम्परा से मोक्ष के कारण है और केवल एक अविनाशी केवलज्ञान साक्षात् ही मोक्ष का कारण है।[72]

---

68. गोम्मटसार —जीवकाण्ड, 314-316
69. हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, 1962, पृष्ठ 245-46
70. देशप्रत्यक्षगुद्भूतो जीवशुद्धौ त्रिधावधिः ।
 देशः सर्वश्च परमः पुद्गलावधिरिष्यते ॥ —हरिवंशपुराण, 10।152
71. देशप्रत्यक्षमेव स्यान्मनः पर्ययइत्यपि ।
 विपुलर्जुमतिप्रख्यः सोऽवधेः सूक्ष्मगोचरः ॥ —हरिवंशपुराण, 10।153
72. हरिवंशपुराण, 10।154-156

ज्ञान के साधन

न्याय दर्शन में प्रमाण चार प्रकार का माना गया है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। ये भेद उत्तरकालीन जैन न्याय में भी स्वीकार किये गये हैं किन्तु इनका उपर्युक्त पाँच प्रकार के ज्ञानों से कोई विरोध या वैषम्य नहीं है। यहाँ प्रत्यक्ष का तात्पर्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष से है, जिससे उपर्युक्त प्रमाण भेदों में परोक्ष कहा गया है तथापि उसे जैन नैयायिकों ने साव्यवहारिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी है। इस प्रकार यह मतिज्ञान का भेद सिद्ध हो जाता है। शेष जो अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण है, उनका समावेश श्रुतज्ञान में होता है।

नय

वस्तु के अनेक स्वरूप हैं उनमें से किसी एक स्वरूप को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय कहलाता है। इसके द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक के भेद से दो भेद हैं। इनमें द्रव्यार्थिक नय यथार्थ है और पर्यायार्थिक नय अयथार्थ है।[73] दोनों ही मूल नय हैं तथा परस्पर सापेक्ष है। सम्यग्दृष्टि से देखने पर इन के सात भेद हो जाते हैं।[74] द्रव्यार्थिक के तीन—नैगम, संग्रह, व्यवहार तथा पर्यायार्थिक के चार—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ़ और एवमभूत्।[75]

नैगम नय

पदार्थ के सकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला नय 'नैगम नय' कहलाता है। तथा प्रस्थ और ओदन पकान आदि का[76] सकल्प कर तदर्थ सम्भार एकत्र करने के काल को भी संकल्प के आधार पर प्रस्थ और ओदनपाचन कहा जाता है।

---

73. नया ऽनेकात्मनि द्रव्ये नियतैकान्तसंग्रहः।
 द्रव्यार्थिको यथार्थोऽन्य. पर्यायार्थिक एव च। —हरिवंशपुराण, 58:39
74. (क) नैगमसंग्रहश्चात्रव्यवहारर्जुसूत्रकोशब्दसमभिरूढाख्य एवं भूतश्चतेनया: । वही 58.41
 (ख) द्वौ मौ मूलनयावेतावन्योन्यापेक्षिणौ मतौ।
 सम्यग्दृष्टास्तयोर्भेदाः सगता नैगमादयः॥ वही 58/40
 (ग) दो चेव मूलिमणाया भणिया दव्वत्थपज्जयत्थनया।
 अण्ण असखसखा ते तब्भेदा मुणेयव्वा॥ —लघुनयचक्र संग्रह, 11
75. (क) तत्त्वार्थसूत्र, 1.33
 (ख) नैगमः संग्रहश्चात्र व्यवहारर्जुसूत्रको।
 शब्दः समभिरूढाख्यः एव भूतश्च ते नयाः॥
 तयोः द्रव्यार्थिकस्याद्यां भेदा सामान्यगोचराः।
 स्युः पर्यायार्थिकस्यान्ये विशेष विषया नयाः॥ —हरिवंशपुराण 58/41–42
76. अर्थसंकल्प मात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः। उदाहरणमस्येष्टं प्रस्थौदनपुरस्सरम्॥
 वही, 58/43

संग्रह नय

अनेक भेद और पर्यायों से युक्त पदार्थ को एक-रूपता प्राप्त कराकर समस्त पदार्थ का ग्रहण करना संग्रह नय है।[77] उदाहरणार्थ संसार के पदार्थ अनेक रूप हैं उन्हें एक रूपता प्राप्त कराकर सत् शब्द से कहना। इसी प्रकार जीवजीवादि अनेक भेदों से युक्त पदार्थों को एक सामान्य शब्द से कहना 'संग्रह नय' है।

व्यवहार नय संग्रह नय से भिन्न दिशा वाला है। उपर्युक्त संग्रह नय के विषयभूत एकरूप सत्ता आदि पदार्थों के विशेष रूप से विविध भेद करना व्यवहार नय है, क्योंकि व्यवहार नय सत्ता के मूल रूप से आगे भेद करता-करता उसे अन्तिम भेद तक ले जाता है।[78] जैसे संग्रह नय में सत् एक है, परन्तु व्यवहार नय उस सत् को द्रव्य और गुण के भेदों में बांट देता है। अथवा संग्रहनय ने जिस द्रव्य को विषय किया था व्यवहार नय कहता है कि उस द्रव्य के जीव और अजीव की दृष्टि से दो भेद हैं। इस प्रकार यह नय पदार्थ में वहाँ तक भेद करता जाता है जहाँ तक भेद करना सम्भव है।

ऋजुसूत्र नय

पदार्थ के भूत-भविष्यत् वक्र पर्याय को छोड़कर वर्तमान पर्यायमात्र का ग्रहण किया जाना ऋजुसूत्र नय होता है।[79] ऋजुसूत्र नय के दो भेद हैं। सूक्ष्म और स्थूल। जीव के समय-समय में होने वाले पर्याय को ग्रहण करना सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय का विषय है और देव मनुष्य आदि बहुसमय व्यापी पर्यायको ग्रहण करना स्थूल ऋजुसूत्र नय का विषय है।

शब्द नय

जो नय लिंग, संख्या और कारक आदि के योग से शब्द के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक शब्द नय है। यह नय लिंगादि के भेद से पदार्थ को भेदरूप में ग्रहण करता है,[80] जैसे—दार (पु०) भार्या (स्त्री०) कलत्र (न०), यहाँ दार भार्या और कलत्र

77. आक्रान्तभेदपर्यायमेकत्वमुपनीय यत् ।
समस्तग्रहणं तस्यात्सद्द्रव्यमिति संग्रह ॥ —हरिवंशपुराण, 58।44
78. संग्रहाक्षिप्तसत्तादेर्व्यवहारो विशेषतः ।
व्यवहारो यतः सत्तां न यत्यन्तविशेषताम् ॥ वही, 58।45
79. वक्रं भूतं भविष्यन्तं त्यक्त्वजुं सूत्रपातवत् ।
वर्तमानार्थपर्यायं सूत्रयन्नृजुसूत्रकः ॥ वही, 58।46
80. लिंगसाधनसंख्यानकालोपग्रहसंकरम् ।
यथार्थशब्दनाच्छब्दो न वष्टि व्यभिचारकः ॥ वही, 58।47

तीनों शब्द भिन्न लिंग वाले होने से यद्यपि एक ही पदार्थ के वाचक हैं तथापि यह नय स्त्री पदार्थ को लिंग के भेद से तीन भेद रूप जानता है।

समभिरूढ़ नय

एक ही पदार्थ के वाचक विभिन्न पर्यायों के अर्थों में भेद को स्वीकार कर उन पर्याय पदों के विभिन्न अर्थ करता है।[81] उदाहरणार्थ—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर ये तीनों शब्द इन्द्र के नाम है किन्तु यह नय तीनों का भिन्न भिन्न अर्थ करता है।

एवम्भूत नय

जो पदार्थ जिस समय जैसी क्रिया करता है उसको केवल उसीसमय उस रूप का कहना, अन्य समय मे नहीं, एवम्भून नय है।[82] यह नय पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को कहता है जैसे 'इन्द्रतीति इन्द्रः' जिस समय इन्द्र ऐश्वर्य का अनुभव करता है उसी समय इन्द्र कहलाता है, अन्य समय में नहीं,[83] तथा वृत्रवध के समय उसे वृत्रहा ही कहना, मघवा आदि नहीं।

सप्तभंगी और स्याद्वाद

सप्तभंगी या स्याद्वाद का हरिवंशपुराणकार ने शायद यह समझकर कि यह एक सुज्ञात सामान्य दार्शनिक विषय है और प्रायः जैन दर्शन के सभी ग्रन्थों में उपलब्ध होता है विस्तार से उल्लेख न कर उसका और उसके भेदों का केवल नामोल्लेख मात्र किया है। अन्य जैन कृतियों के अनुसार इनका विवेचन अप्रासंगिक न होगा। इसलिए यह विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

> जो तच्च मणेयन्तं णियमा सद्दहिद सत्तभंगे हिं।
> लोयाण पण्ह वसदो ववहार पवत्तणट्ठं च ॥
>
> –कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 311

(जो लोक प्रश्न-वश तथा व्यवहार सम्पदानार्थ अनेकान्त का श्रदान सप्तभंगी द्वारा नियम से करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।)

समस्त चेतन अचेतन पदार्थ स्व-द्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से सत्स्वरूप हैं और पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षया असत्-स्वरूप है। यदि ऐसा अपेक्षया स्वीकार न किया जाये तो किसी इष्ट तत्त्व की व्यवस्था नहीं बन सकती।

81. शब्दभेदेऽर्थभेदार्थी व्यक्तपर्यायशब्दकः।
    नयः समभिरूढोऽर्थो नानासमभिरोहणात् ॥ –हरिवंशपुराण, 58।48
82. यदेन्दति तदैवेन्द्रो नान्यदेति क्रियाक्षणे।
    वाचकं मन्यते त्वेवैवम्भूतो यथार्थवाक् ॥ वही, 58।49
83. वही

हरिवंशपुराण में सात भंगों की तरफ इशारा करते हुए पुराणकार ने कहा है कि जीवादि नौ पदार्थों को—1—सत्, 2—असत्, 3—उभय, 4—अवक्तव्य, 5—सद् अवक्तव्य, 6—असद् अवक्तव्य और 7—उभय अवक्तव्य इन को सात भंगों से कौन जानता है।[84]

श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्रम् में सप्तभंगों का इस प्रकार वर्णन किया गया है 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्याद्वक्तव्य, स्यादस्त्यवक्तव्य, स्यान्नास्त्य-वक्तव्य, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य,—ये सात भंग है। वक्तव्य मे गोण और मुख्य भाव नियत करने वाली यह सप्तभंग विधि है।[85]

भंग शब्द के भाग, लहर, प्रकार, विघ्न, आदि अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से यहाँ भंग शब्द प्रकार वाची लिया है, तदनुसार वचन के भंग सात प्रकार के हो सकते हैं उससे अधिक नहीं, क्योंकि आठवीं तरह का कोई वचन भंग नहीं होता और सात से कम मानने से कोई न कोई वचन-भंग छूट जाता है।[86]

किसी पदार्थ के विषय मे जो भी बात कही जाती है, वह मौलिक रूप से तीन प्रकार की होती है (या हो सकती है), 1—'है' (अस्ति), 2—'नहीं' (नास्ति) के रूप में, 3—न कह सकने योग्य (अवक्तव्य) के रूप में। इन तीन मूल भंगों को परस्पर मिलाकर तीन युगल (द्वि-संयोगी) रूप होते हैं 1—'है' और 'नहीं' (अस्ति नास्ति) रूप, 2—'है' और न कह सकने योग्य' (अस्तिनास्ति-अवक्तव्य)। इस तरह के वचन भग सात तरह के है इन सातो भगों के समुदाय को (सप्तानां भंगानां समुदायः सप्तभगी) सप्तभंगी कहते हैं।

1—प्रत्येक वस्तु अपने दृष्टि कोण को अपेक्षा अस्ति रूप होती है, उदाहरण राम अपने पिता दशरथ की अपेक्षा 'पुत्र' हैं।

2—प्रत्येक वस्तु अन्य दृष्टि कोण की अपेक्षा नास्ति रूप होती है, जैसे—राम राजा जनक की अपेक्षा पुत्र नहीं है।

---

84. पदार्थान्नव को वेत्ति सदाद्यैः सप्तभंगकैः...। हरिवंशपुराण, 10।54

85. गतिस्थित्योर्निमित्तं तौ धर्माधर्मौ यथाक्रमम्।
नभोऽवगाहहेतुस्तु जीवाजीवद्वयोस्सदा ॥
पूरण गलन कुर्वन् पुद्गलोऽनेकधर्मकः ।
सोऽणुसंघाततः स्कन्धः स्कन्धभेदादणुः पुनः ॥

86. सप्तधैव तत्सन्देह समुत्पादात्। —स्याद्वादसिद्धि
(किसी भी पदार्थ के विषय में सन्देह की उत्पत्ति सात प्रकार से ही हो सकती है)

3—दोनों दृष्टिकोणों को क्रमशःकहने पर वस्तु का स्वरूप 'अस्तिनास्ति' रूप होती है, जैसे राम दशरथ के पुत्र हैं, जनक के पुत्र नहीं है।

4—परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों से एक साथ वस्तु वचन द्वारा नहीं कही जा सकती क्योंकि वैसा वाचक कोई शब्द नहीं है। अतः उस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य होती है, जैसे राम राजा दशरथ तथा जनक की युगपद् अपेक्षा कुछ नहीं कहे जा सकते।

5—वस्तु न कह सकने योग्य होते हुए भी अपने दृष्टिकोण से होती तो है (स्यात् अस्ति अवक्तव्य) जैसे—राम यद्यपि दशरथ तथा जनक की अपेक्षा एक ही शब्द द्वारा अवक्तव्य हैं फिर भी राजा दशरथ की अपेक्षा पुत्र है (स्यात् अस्ति अवक्तव्य)।

6—वस्तु अवक्तव्य होते हुए भी अन्य दृष्टिकोण से नहीं रूप है, जैसे—राम दशरथ तथा जनक की युगपद् अपेक्षा पुत्र नहीं है। (स्यात् नास्ति अवक्तव्य)

7—परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों से युगपद् अवक्तव्य होते हुए भी वस्तु क्रमशः उन परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों से है, नहीं (अस्ति नास्ति अवक्तव्य) रूप होती है, जैसे—राम राजा दशरथ तथा राजा जनक की अपेक्षा युगपद् रूप से कुछ भी नहीं कहे जा सकते (अवक्तव्य) हैं किन्तु युगपद् अपेक्षया अवक्तव्य होकर भी क्रमशः राजा राम दशरथ के पुत्र हैं, राजा जनक के पुत्र नहीं हैं।

आचार्य कहते हैं—'अक्षरण मिमते सप्त वाणीः'—सप्त विध वाक् अक्षरों द्वारा व्यक्त है। यहाँ प्रथमा द्वितीयादि सप्त विभक्तियां ही ज्ञातव्य नहीं है, अपितु वाक् की सप्त भंगिमाएं भी व्याख्यात हुई हैं।

सम्यक्चारित्र

सम्यक्चारित्र का मुक्ति के मार्ग में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। जिसके धारण किये बिना तीर्थंकर भी सिद्ध नहीं हो सकते और जिसके अभाव में समस्त रागी जीव संसार में भटक रहे हैं तथा जन्म मरण के दुःख उठा रहे हैं, वह चारित्र ही साक्षात् धर्म है। मोह, राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है और वही चारित्र है।[87]

प्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व की उपासना करना चाहिये, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं।[88]

---

87. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहिणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ — प्रवचनसार, गाथा 7

88. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, 21

अतः अज्ञानान्धकार के समाप्त हो जाने पर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त साधु-पुरुष राग-द्वेष (कषायभाव) रूप हिंसादि की निवृत्ति के लिए चारित्र धारण करते हैं, क्योंकि राग-द्वेष रूप भावहिंसादि की निवृत्ति हो जाने पर द्रव्यहिंसा की निवृत्ति सहज हो ही जाती है। जैसे—अर्थ की अपेक्षा से रहित पुरुष राजादि की सेवा नहीं करता, वैसे ही विरक्त पुरुष पापों में प्रवृत्त नहीं होता।[89]

मुनि और श्रावक धर्म

पापों की प्रणालियाँ पाँच है – हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और अपरिग्रह इनसे विरक्त का नाम भी चरित्र है।[90] उक्त पाँच पापों से पूर्णतः विरक्त को अर्थात् सूक्ष्म रीति से धारण किये जावें तो मुनि धर्म है जिसे सकल-चारित्र भी कहते हैं तथा अंशतःता स्थूल रीति से धारण किये जावें तो श्रावक का धर्म है जिसे देशचारित्र भी कहते है।[91]

जिनसेनाचार्य ने मुनि और श्रावक धर्म को बताते हुए आगे लिखा है "दान, पूजा, तप और शील यह गृहस्थ का चार प्रकार का शारीरिक धर्म है, श्रावक का यह चतुर्विध धर्म त्याग से ही उत्पन्न होता है। सम्यगदर्शन जिसकी जड़ है ऐसा यह गृहस्थ का धर्म महर्द्धिक देवों की लक्ष्मी प्रदान करता है और पूर्णता से पालन किया हुआ मुनि धर्म मोक्ष सुख की देने वाला है।

अणुव्रत और महाव्रत

हिंसा, झूंट, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापों से विरक्त होना व्रत है। यह व्रत दो प्रकार का है— अणुव्रत और महाव्रत। उक्त पापों से एकदेश विरत होना अणुव्रत है तथा सर्वदेश विरत होना महाव्रत है।[92]

पुराणकार ने महाव्रत और अणुव्रत से युक्त मनुष्यों को अपने व्रत में स्थिर रखने के लिए उक्त पांचों व्रतों की पाँच-पाँच भावनायें बताई है— 1. सम्यक् वचनगुप्ति, सम्यग्गुप्ति, भोजन के समय देखकर भोजन करना, इर्यासमिति, और आदानक्षेपण समिति ये पाँच अहिंसाव्रत की भावनाएँ है। क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग करना तथा प्रसस्त वचन बोलना ये पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ हैं। शुन्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये पाँच अचौर्य व्रत की भावनाएँ हैं। स्त्री-राग, कथा श्रवण त्याग, उनके मनोहर अंगो

89. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 48
90. हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवा परिग्रहाभ्यां च।
    पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥ —रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 46
91. हरिवंशपुराण, 2017
92. वही, 58 119

को देखने का त्याग करना, शरीर की सजावट का त्याग करना, गरिष्ठ रस का त्याग करना एवं पूर्व काल में भोगे हुए रति का स्मरण का त्याग करना—ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनायें हैं। पंच इन्द्रियों के इष्ट–अनिष्ट विषयों में यथायोग्य राग द्वेष का त्याग करना ये पाँच अपरिग्रह व्रत की भावनाएँ हैं।[93]

हिंसाणुव्रत व उसके अतिचार—प्राणियों के लिए यथासम्भव इन्द्रियादि दश प्राण प्राप्त हैं। प्रमादी बन कर उनका विच्छेद करना हिंसा पाप है।[94] (प्रमत्त-योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा) प्रमाद का अर्थ है मन को रागद्वेषात्मक कषायों से अछूता रखने में शिथिलता और विच्छेद से तात्पर्य है न मार डालना अपितु उन्हें किसी भी प्रकार की पीड़ा न पहुँचाना। इस हिंसा के दो भेद हैं-द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। जिनसेनाचार्य ने इसी भाव को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है–"प्राणियों के दुःख का कारण होने से प्रमादी मनुष्य जो किसी के प्राणों का वियोग करता है वह अधर्म का कारण है। पाप बन्ध का निमित्त है परन्तु समिति पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले प्रमाद रहित जीव से कदाचित यदि किसी के जीव के प्राणों का वियोग हो जाता है तो वह उसके लिए बन्ध का कारण नहीं होता है। प्रमादी आत्मा अपनी आत्मा का अपने आपके द्वारा पहले घात कर लेता है पीछे दूसरे प्राणियों का वध होता भी है और नहीं भी होता है।[95]

पुराणकार ने जीवों की गति में रुकावट डालने वाला बन्ध, दण्ड आदि से अत्यधिक पीटना, वध, कान आदि अवयवों को छेदना, अधिक भार लादना और भूखादि की बाधा करने वाला अन्नपान का निरोध ये पाँच हिंसाणुव्रत के अतिचार बताये हैं।[96]

सत्याणुव्रत व उसके अतिचार— विद्यमान अथवा अविद्यमान वस्तु को निरूपण करने वाला प्राणि-पीड़ाकारक वचन, असत्य अथवा अनृत वचन कहलाता है। इसके विपरीत जो वचन प्राणियों का हित करने वाला है वह ऋत अथवा सत्य वचन कहलाता है।[97] जिनसेनाचार्य के अनुसार सत्याणुव्रत के निम्न पाँच अतिचार हैं- जिसमे राग,द्वेष, मोह से प्रेरित हो पर-पीड़ाकारक असत्य वचन से विरति होती है वह सत्याणु व्रत है।[98]

93. हरिवंशपुराण, 58।118–122
94. वही, 58।127
95. वही, 58।128–129
96. वही 58।164–165
97. वही, 58।130
98. वही, 58।139

झूठा उपदेश देना, किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना, झूँठे लेख तैयार करना, किसी की धरोहर को रखकर भूल जाना या उसे कम बतलाना अथवा किसी की अंगचेष्टाओं व इशारों आदि से समझकर उसके मन्त्र के भेद को खोल देना ये पाँच इस व्रत के अतिचार है।[99] जो स्पष्टतः सामाजिक जीवन में बहुत नुकसा-दायक है। सत्यव्रत के परिपालन के लिए जिनसेन ने पाँच भावनाओं को गिनाया है वे हैं— क्रोध, लोभ, भीरुता और हुंसी—मजाक इन चार का परित्याग तथा भाषण में औचित्य रखने का अभ्यास।[100]

अस्तेयाणु व्रत व उसके अतिचार— बिना दी हुई वस्तु का स्वयं ले लेना चोरी कही जाती है। परन्तु जहाँ संकलेश परिणामपूर्वक प्रवृत्ति होती है वही चोरी होती है।[100] दूसरे का गिरा-पड़ा या भूला हुआ द्रव्य चाहे अधिक हो या थोड़ा बिना दी हुई दशा में उसको नहीं लेना अस्तेयाणु व्रत अर्थात् अचौर्याणुव्रत है।[102]

स्वयं चोरी न कर दूसरों के द्वारा चोरी कराना, चोरी के धन को अपने पास रखना, राज्य द्वारा नियत सीमाओं के बाहर वस्तुओं का आयात-निर्यात करना, माप-तौल के बांट नियत परिणाम से हीनाधिक रखना और नकली वस्तुओं का असली के बदले में चलाना ये पाँच अचौर्यव्रत के अतिचार हैं।[103] जो स्पष्टतः सामाजिक जीवन में बहुत हानिकर है। अस्तेयव्रत के परिपालन के लिए हरिवंशकार ने पाँच भावनाओं की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है– शुन्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये पाँच अचौर्यव्रत की भाव-नाएँ हैं।[104]

ब्रह्मचर्याणु व्रत व उसके अतिचार— जिसमें अहिंसादिगुणों की वृद्धि हो वह वास्तविक ब्रह्मचर्य है।[105] परस्त्रियों में राग छोड़कर अपनी स्त्रियों में ही जो सन्तोष होता है वह ब्रह्मचर्याणुव्रत है।[106] दूसरे का विवाह कराना, गृहीत या वैश्या गणिका के साथ गमन, अप्राकृतिक रूप से कामक्रीड़ा करना और काम की तीव्र अभिलाषा होना ये पाँच इस व्रत के अतिचार हैं।[107]

99. वही, 58।166
100. वही, 58।119
101. वही, 58।131
102. वही, 58।140
103. वही, 58।171
104. वही, 58।120
105. वही, 58।132
106. वही, 58।141
107. वही, 58।174

अपरिग्रहाणुव्रत व उसके अतिचार—गाय, घोड़ा, मणि मुक्ता आदि चेतन, अचेतनरूप बाह्य धन में तथा रागादिकरूप अन्तरंग विकार में ममता भाव रखना परिग्रह है।[108] सुवर्ण, दास, गृह तथा खेत आदि पदार्थों का बुद्धि पूर्वक परिमाण कर लेना इच्छा परिमाण नामक अणुव्रत है।[109]

हिरण्य–सुवर्ण, वास्तु क्षेत्र धन धान्य, दासी-दास और कुप्य-बर्तन तथा वस्त्र की सीमा का उल्लघंन करना ये पाँच परिग्रहपरिमाण व्रत के अतिचार हैं।[110] रुपया, चाँदी आदि को हिरण्य तथा सोना व सोने के आभूषण को सुवर्ण कहते हैं, रहने के मकानों को वास्तु और गेहूँ चना आदि के उत्पत्ति स्थान को क्षेत्र कहते है। गाय भैंस आदि को धन तथा गेहूँ चना आदि अनाज को धान्य कहते हैं, दासी-दास शब्द का अर्थ स्पष्ट है। बर्तन तथा वस्त्र को कुप्य कहते हैं। इनके प्रमाण का उल्लघंन करना हिरण्यसुवर्णातिक्रम आदि अतिचार होते हैं। इस परिग्रह परिमाण को दृढ़ करने वाली पाँच भावनाएँ हैं- पाँचों इन्द्रियों से सम्बन्धित इष्ट अनिष्ट विषयों मे यथायोग्य राग-द्वेष का त्याग करना ये पाँच अपरिग्रहव्रत की भावनायें।[111]

मैत्री आदि चार भावनाएँ— उपर्युक्त व्रतों के परिपालन योग्य मानसिक शुद्धि के लिए ऐसी भावनाओं का भी विधान किया गया है जिनसे उक्त पापों के प्रति अरुचि और सदाचार के प्रति रुचि उत्पन्न हो। जिनसेन ने उनको अपने हरिवंश में इस प्रकार समझाया है— मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ ये चार भावनाएँ क्रम से प्राणी मात्र, गुणाधिक, दुखी और अविनेय जीवों में करना चाहिये अर्थात् किसी जीव को दुख न हो ऐसा विचार करना मैत्री भावना है। अपने से अधिक गुणी मनुष्यों को देखकर हर्ष प्रकट करना प्रमोद भावना है। दुःखी मनुष्यों को देखकर हृदय में दयाभाव उत्पन्न होना करुणा भावना है और अविनेय मिथ्यादृष्टि जीवों में मध्यस्थ भाव रखना मध्यस्थ भावना है।[112]

तीन गुणव्रत— पाँच मूल व्रतों के अतिरिक्त गृहस्थ के लिए कुछ अन्य ऐसे व्रतों का भी जैनागमों में विधान किया गया है जिससे कि उनकी तृष्णा व संच-

---

108. वही, 58।133
109. वही, 58।142
110. हिरण्यस्वर्णयोर्वास्तुक्षेत्रयोर्धनधान्ययोः।
दासीदासाचयोः पञ्चकुप्यस्यैते ह्यतिक्रमाः॥ वही, 58 176
111. इष्टानिष्टेन्द्रियार्थेषु रागद्वेषविमुक्तयः।
अथास्य पञ्च विज्ञेयाः पञ्चमव्रत भावनाः॥ वही, 58।122
112. मैत्री प्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यं च यथाक्रमम्।
सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे ह्यविनेये च भाव्यते॥ वही, 58।125

प्रवृत्ति का नियंत्रण हो, इन्द्रिय लिप्सा का दमन हो और दानशीलता जागृत हो, उसको जिनसेन ने अपने हरिवंश में इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

"दिशाओं और विदिशाओं में प्रसिद्ध चिन्हों द्वारा की हुई अवधि का उल्लंघन न करना दिग्व्रत नामका पहला गुणव्रत है। दिग्व्रत के भीतर यावज्जीवन के लिए किये हुए वृहत् परिमाण के अन्तर्गत कुछ समय के लिए जो ग्राम नगर आदि की अवधि की जाती है, उससे बाहर नहीं जाना देशव्रत नाम का गुणव्रत है। पापोदेश, अपध्यान प्रमादाचरित, हिंसादान और दुःश्रुति ये पाँच प्रकार के अनर्थ दण्ड है जो पाप के उपदेश का कारण हैं, वह अपकार करने वाला अनर्थदण्ड है, उससे विरत होना सो अनर्थदण्ड त्याग नामका तीसरा गुणव्रत है।[113]

चार शिक्षा व्रत—देवता के स्मरण में स्थित पुरुष के सुख-दुःख तथा शत्रु-मित्र आदि मे जो माध्यस्थ भाव की प्राप्ति है उसे सामायिक नामका पहला शिक्षाव्रत जानना चाहिये। दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चार पर्व के दिनों में निरारम्भ रहकर चार प्रकार के आहार का त्याग करना सो प्रोषधोपवास नामका दूसरा शिक्षाव्रत है जिसमें इन्द्रियाँ बाह्य संसार से हटकर आत्मा के समीप वास करती है वह उपवासव्रत कहलाता है। गन्ध, माला अन्न-पान आदि उपभोग है और आसनादि के परिभोग है। पास जाकर जो भोगा जाता है वह उपभोग कहलाता है और जो एक बार भोगकर छोड़ दिया जाता है तथा पुनः भोगने में आता है परिभोग कहलाता है। जिसमें उपभोग तथा परिभोग का यथाशक्ति परिमाण किया जाता है वह उपभोग परिभोग परिमाणव्रत है। माँस मदिरा, मधु, जुआ, वेश्या गमन तथा रात्रि भोजन से विरत होना एवं कामादि जीवों का त्याग करना नियम कहलाता है। जो संयम की वृद्धि के लिए निरंतर भ्रमण करता रहता है वह अतिथि कहलाता है उसे शुद्धि पूर्वक आगमोक्त विधि स आहारादि देना अतिथिसविभाग व्रत है।[114] चारों शिक्षाव्रत जिनसेन ने गिनाये है, क्योंकि इनसे गृहस्थ को धार्मिक जीवन का शिक्षण व अभ्यास होता है। सामान्यरूप से ये सातों व्रत सप्तशील या सप्त शिक्षा-पद भी कहे गये हैं। इन समस्त व्रतों के द्वारा जीवन का परिशोधन करके गृहस्थ को मरण भी धार्मिक रीति से करना सिखाया गया है।

सल्लेखना

संकट, दुर्भिक्ष, असाध्यरोग व वृद्धत्व की अवस्था में जब साधक को यह प्रतीत हो कि वह उस विपत्ति से बच नहीं सकता, तब उसे कराह-कराह कर व्याकुलता

113. वही, 58:144-147

114. स संयमस्य वृद्धयर्थमततीत्यतिथिः स्मृतः ।
प्रदानं संविभागोऽस्मै यथाशुद्धियथोचितम् ॥ वही, 58:153-158

पूर्वक मरने की अपेक्षा यह श्रेयस्कर है कि वह क्रमशः अपना आहार-पान इस विधि से घटाता जावे जिससे उसके चित्त में क्लेश व व्याकुलता उत्पन्न न हो, और वह शांतभाव से अपने शरीर का उसी प्रकार त्याग कर सके, जैसे कोई धनी पुरुष अपने गृह को सुख का साधन समझता हुआ भी उसमें आग लगने पर स्वयं सुरक्षित निकल आने में ही अपना कल्याण समझता है, इसे सल्लेखना कहा गया है। जिनसेन ने इसे ही अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है "मृत्यु के कारण उपस्थित होने पर बहिरंग में शरीर और अन्तरंग में कषायों का अच्छी तरह कृश करनी सल्लेखना कहलाती है।[115]

गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाएं

पूर्वोक्त गृहस्थ धर्म के व्रतों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट दिखाई देगा कि वह धर्म सब व्यक्तियों के लिए, सबकाल में पूर्णतः पालन करना सम्भव नहीं है। इसलिए परिस्थितियों, सुविधाओं, तथा व्यक्ति के शारीरिक व मानसिक वृत्तियों के अनुसार गृहस्थ धर्म के ग्यारह दर्जे नियत किये गये हैं जिन्हें श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं।

गृहस्थ की प्रथम प्रतिमा उस सम्यग्दृष्टि (दर्शन) की प्राप्ति के साथ प्रारम्भ हो जाती है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यह प्रथम प्रतिमाधारी गृहस्थ किसी भी व्रत का विधिवत् पालन नहीं करता। सम्भव है वह चाण्डाल कर्म करता हो, तथापि आत्म और पर की सत्ता का भान हो जाने से उसकी दृष्टि शुद्ध हुई मानी गई है, जिसके प्रभाव से वह पशु व नरक की योनि में जाने से बच जाता है। तात्पर्य यह है कि भले ही परिस्थितिवश वह अहिंसादि व्रतों का पालन न कर सके, किन्तु जब दृष्टि सुधर गई, तब वह भव्य सिद्ध हो चुका और कभी न कभी चारित्र शुद्धि प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी हुए बिना नहीं रह सकता।

गृहस्थ की दूसरी प्रतिमा उसके अहिंसादि पूर्वोक्त व्रतों के विधिवत् ग्रहण करने से प्रारम्भ होती है, और वह क्रमशः पाँच अणुव्रतों व सात शिक्षापदों का निरतिचार पालन करने का अभ्यास करता जाता है। तीसरी प्रतिमा सामायिक है।

115. रागादीनामनूत्पत्तावागमोदितवर्त्मना।
आवश्यकपरिहारे हि शान्ते सल्लेखना मता।। वही, 58/161

चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा में वह उस उपवास विधि का पूर्णतः पालन करने में समर्थ होता है जिसका अभ्यास वह दूसरी प्रतिमा में आरम्भ कर चुका होता है। पांचवीं सचित्त-त्याग प्रतिमा में श्रावक अपने स्थावर जीवों सम्बन्धी हिंसा-वृत्ति को विशेषरूप से नियन्त्रित करता है और हरे शाक, फल, कन्द-मूल तथा अप्राशुक अर्थात् बिना उबाले जल का आहार का त्याग कर देता है। छठी प्रतिमा में वह रात्री भोजन करना छोड़ देता है क्योंकि रात्री में कीट पतंगादि सूक्ष्म जन्तुओं द्वारा आहार के दूषित हो जाने की सम्भावना रहती है। सातवीं प्रतिमा में गृहस्थ पूर्ण ब्रह्मचारी बन जाता है और अपनी स्त्री से भी काम-क्रीड़ा करना छोड़ देता है, यहाँ तक कि रागात्मक कथा कहानी पढ़ना-सुनना भी छोड़ देता है, व तत्सम्बन्धी वार्तालाप करना भी छोड़ देता है। आठवीं प्रतिमा आरम्भ त्याग की है- जिसमें गृहस्थ की सांसारिक आसक्ति इतनी घट जाती है कि वह घर गृहस्थी सम्बन्धी काम धन्धे व व्यापार में रुचि न रख उसका भार अपने पुत्रादि पर छोड़ देता है।

नौवीं प्रतिमा परिग्रह त्याग की है। गृहस्थ ने जो अणुव्रतों में परिग्रह परिमाण का अभ्यास प्रारम्भ किया था, वह इस प्रतिमा मे आने तक ऐसे उत्कर्ष को पहुँच जाता है कि गृहस्थ को अपने घर सम्पति धन-दौलत से कोई मोह नहीं रहजाता वह अब इस सब को भी अपने पुत्रादि को सौंप देता है, और अपने लिए भोजन-वस्त्र मात्र का परिग्रह रखता है। दशवीं प्रतिमा में वह अपने पुत्रादि को काम धन्धों सम्बन्धी अनुमति देना भी छोड़ देता है। ग्यारहवीं प्रतिमा उदिष्ट त्याग की है, जहाँ पर गृहस्थ अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, इस प्रतिमा के दो अवान्तर भेद हैं— एक"क्षुल्लक" और दूसरा "ऐलक"। प्रथम प्रकार का उदिष्ट त्यागी एक वस्त्र धारण करता है, कैंची, छुरे से अपने बाल बनवा लेता है तथा पात्र में भोजन कर लेता है, किन्तु दूसरा उदिष्ट त्यागी वस्त्र के नाम पर केवल कोपीन धारण करता है, स्वयं केशलोंच करता है, पीछी कमण्डल रखता है और भोजन केवल अपने हाथ में लेकर ही करता हैं।

मुनिधर्म

उपर्युक्त श्रावक की सर्वोत्कृष्ट ग्यारहवीं प्रतिमा के पश्चात् मुनि धर्म क्या है? इसका वर्णन किया गया है इसमें आदितः परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग कर नग्नवृत्ति धारण की जाती है और अहिंसादि पाँच व्रतों को महाव्रतों के रूप में पालन करने की प्रतिज्ञा ली जाती है। मुनि को अपने चलने फिरने में विशेष सावधानी रखनी पड़ती है। अपने आगे पाँच हाथ पृथ्वी देख कर चलता है और अन्धकार में

गमन नहीं किया जाता, इसी का नाम ईर्या समिति है। मिथ्या व चापलूसी, हंसी कटु आदि दूषित भाषा का परित्याग कर मुनि को सदैव संयत नपी-तुली, सत्य, प्रिय और कल्याणकारी वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए। यह मुनि की भाषा समिति है। भिक्षा द्वारा केवल शुद्ध निरामिष आहार का निर्लोभ भाव से ग्रहण करना मुनि की एषणा समिति है। जो कुछ थोड़ी बहुत वस्तुएं निर्ग्रंथ मुनि अपने पास रख सकता है वे ज्ञान व चरित्र के परिपालन-निमित्त ही हुआ करती हैं जैसे शास्त्र, पिच्छिका, कमण्डल आदि। इनके रखने व ग्रहण करने में भी जीव रक्षा निमित्त सावधानी रखनी आदान निक्षेप समिति है। मल-मूत्रादि का त्याग किसी दूर एकान्त, सूखे व जीव-जन्तु रहित ऐसे स्थान पर करना जिससे किसी को कोई आपत्ति न हो, यह मुनि की प्रतिस्थापना समिति है।

चक्षु आदि पाँचों इन्द्रियों का नियन्त्रण करना उन्हें अपने अपने विषयों की लोलुपता से आकर्षित न होने देना ये मुनियों के पाँच इन्द्रिय निग्रह है। जीवमात्र में, मित्र-शत्रु में, दुःख-सुख में, लाभ-हानी में, रोष-तोष भाव का परित्याग कर समता-भाव रखना, तीर्थंकरों की गुणानु कीर्तन रूप स्तुति करना, अर्हन्त व सिद्ध की प्रतिमाओं व आचार्यादि की मन, वचन एवं काय से प्रदक्षिणा, प्रणाम आदिरूप वन्दना करना, नियमित रूप से आत्म-शोधन निमित्त अपने अपराधों की निन्दा-प्रहारूप प्रतिक्रमण करना, समस्त अयोग्य आचरण का परिवर्जन एवं अनुचित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परित्याग रूप प्रत्याख्यान तथा अपने शरीर से ममत्व छोड़ने रूप विसर्गभाव रखना ये छह मुनियों की आवश्यक क्रियायें हैं। समय-समय पर अपने हाथों से केश लौंच, अचेलकवृत्ति, स्नान त्याग, दन्त धावन त्याग, क्षितिशयन त्याग, स्थिति भोजन अर्थात् खड़े रह कर भोजन करना और मध्याह्नकाल में केवल एक बार भोजन करना, ये मुनि की अन्य सात साधनायें हैं इस प्रकार मुनियों में कुल अट्ठाईस गुण नियुक्त किये गये हैं।[116]

तीन गुप्तियाँ

जिनसेनाचार्य ने तीन गुप्तियों का उल्लेखकर बताया है कि ये संवर के कारण है।[117] शरीर का भले प्रकार अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से वश करना तथा

116. वही, 58/301-302

117. त्रिसंख्या गुप्तयः ......—हरिवंशपुराण, 58/301

वचन का भले प्रकार अवरोधन करना और मन का सम्यक्त्व निरोधन करना, इस प्रकार तीन गुप्तियों को जानना चाहिये।[118]

पाँच समितियाँ

जिनसेनाचार्य ने मुनियों के लिए आवश्यक बातों में पाँच समितियों का भी उल्लेख किया है।[119] सावधान होकर भले प्रकार गमन और आगमन, उत्तम हित-मितवचन, योग्य आहार का ग्रहण, पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण और यत्नपूर्वक क्षेपण अर्थात् धरना और प्रासुक भूमि देखकर मल मूत्रादि त्यागना ये पाँच समितियाँ है।[120]

प्राण-पीड़ा परिहार करने में पाँच समितियाँ उत्तम उपाय है, इनके ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और उत्सर्ग समिति ये पाँच प्रचलित नाम हैं।

गुणस्थान, धर्म, अनुप्रेक्षा एवं परिषहजय

आचार्य ने अपनी कृति में चौदह गुणस्थान गिनाये हैं— प्रथम गुणस्थान मिथ्यादृष्टि है जो कि सार्थक नाम को धारण करने वाला है, दूसरा सासादन तीसरा मिश्र, चौथा असंयत सम्यग्दृष्टि, पाँचवाँ संयतासंयत, छठवाँ प्रमत संयत सातवाँ अप्रमत संयत, आठवाँ अपूर्वकरण, नौवाँ अनिवृत्तिकरण, दशवा सूक्ष्मसाम्पराय, ग्यारहवाँ उपशान्त कषाय, बारहवाँ क्षीण मोह, तेरहवाँ संयोगकेवली और चौदहवाँ अयोगकेवली है।

पुराणकार ने दश धर्म,[122] बारह अनुप्रेक्षाएं[123] तथा बाईस परिषहजयों[124] को संवर का कारण बताया है।[125]

---

118. सम्यग्दण्डो वपुषो सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तिनां त्रितयमवगम्यम्॥ —पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 202
119. हरिवंशपुराण, 58।301
120. सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः॥ —पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, 203
121. हरिवंशपुराण, 58।80–83
122. धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिंचन्यं ब्रह्म त्यागश्चसंयमश्चेति॥ —पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 204
123. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, 205
124. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, 206–208
125, हरिवंशपुराण, 301–302

मोक्ष

निर्ग्रन्थ मुद्रा के धारक मुनि के बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा जो समस्त कर्मों का अत्यन्त क्षय होता है वह मोक्ष कहलाता है।[126]

इन जीवादि सात तत्त्वों का सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का साक्षात् साधन है। मोक्षमार्ग में स्थित कितने ही भव्य जीव एक ही भव में सिद्ध हो जाते हैं और कितने ही भव्य स्वर्ग के सुख भोगकर सदा आत्मा का ध्यान करते हुए सात-आठ भव में मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।[127]

---

126. बन्धहेतोरभावाद्धि निर्जरातश्च कर्मणाम् ।
कात्स्न्र्येन विप्रमोक्षस्तु मोक्षो निर्ग्रन्थरूपिणः ॥ —हरिवंशपुराण, 58।303
127. हरिवंशपुराण, 58।304–305

एकादश अध्याय

भारतीय संस्कृति को हरिवंशपुराण का योगदान

आचार्य जिनसेनकृत हरिवंशपुराण भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के लिए एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। जितनी सामग्री इतिहास, भूगोल, दर्शन और संस्कृति साहित्य विषयक यह पुराण देता है, एक साथ उतनी सामग्री अन्यत्र शायद ही प्राप्त हो।

राष्ट्र के कुछ महापुरुषों के चरित्र क्षेत्र और काल की सीमा को पार कर व्यापक रूप से लोकरुचि के विषय बन गये हैं। राम और कृष्ण के चरित्र इसी प्रकार के हैं। हिन्दू और जैन साहित्य मे इनकी प्रधानता है और गत दो ढाई हजार वर्षों में अगणित पुराण काव्य, नाटक व कथानक इन महापुरुषों के जीवन के आधार पर लिखे गये हैं। रामायण और महाभारत उक्त विविध साहित्यिक धाराओं की अनेक रचनाओं के लिए प्रेरणा और सामग्री के स्रोत सिद्ध हुए है, वैसे ही जैनसाहित्य की विविध धाराओं के विकास में हरिवंशपुराण और पद्मपुराण का योगदान रहा है। यहाँ हमारा प्रयोजन विशेषतः हरिवंश सम्बन्धी कथानकों से है जिनकी धारा पिछले साहित्य में प्रवाहित हुई है। अर्धमागधी आगम के अनेक स्थलों पर कृष्ण व कौरव-पाण्डवों के आख्यान आए है। विशेषतः छठे श्रुतांगणायाधम्मकहाओ एवं आठवें अन्तगड़दसाओ में। आगमोत्तर वसुदेवहिण्डी आदि प्राकृत ग्रंथ भी हरिवंश सम्बन्धी कथाओं के महान् आकर हैं। इनका बहुतसा वर्णन महाभारत से मिलता है और कुछ भिन्न रूप में पाया जाता है। विशेष बात यह है कि इन चरित्रों को भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी सैद्धान्तिक व नैतिक परम्परा के अनुरूप ढाल कर अपनाया है।

विषय वर्णन की दृष्टि से वैदिक परम्परा में पुराण के पाँच लक्षण माने गये हैं—सृष्टि की रचना, प्रलय और पुनः सृष्टि, मानव वंश, मनुओं के युग और राजवंशों के चरित। अपने सिद्धान्तों के अनुसार उचित हेर-फेर के साथ हरिवंशपुराण में भी इन्हीं लक्षणों का पालन किया गया है। जैन-धर्म विश्व को जड़-चेतन रूप से अनादि-अनन्त मानता है, किन्तु उसका विकास कालचक्र के आरोह–अवरोह क्रम से ऊपर-

नीचे की ओर परिवर्तनशीलता को लिए हुए बदला करता है। अतः हरिवंशपुराण में सर्ग प्रतिसर्ग के स्थान पर विश्व का यही स्वरूप तथा 'कालचक्र के आवर्तों का' उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप विपरिवर्तन व लोक व्यवस्था में हेर फेर का विवरण दिया गया है। वंशों, मनुओं और वंशानुचरितों का इस पुराण में भी प्रचलित वैदिक-परम्परा के अनुसार ही वर्णन दिया गया हैं।

महाभारत की कथावस्तु को हरिवंशपुराणकार ने जैन ढांचे में ढालकर लिखा है, इसीलिए महाभारत से इसका मेल नहीं खाता। कथावस्तु में तो परिवर्तन है ही, वर्णन और व्यवस्था में भी कहीं-कहीं कुछ एकदम नवीन और विशेष बातें कही गई हैं, जो रोचक भी हैं और जिनकी प्रमाणीकता और औचित्य गवेषणीय हैं। उदाहरणार्थ— द्रोपदी के पाँच पति नहीं थे, कुछ लोगों ने प्रसंग की अन्यथा व्याख्या करके इस तरह की विकृति कायम की। द्रौपदी के स्वयंवर में अर्जुन ने गाण्डीव चक्र का भेदन किया और द्रौपदी ने आकर उनके गले में वरमाला डालदी। मौके की बात कि वरमाला टूट गई और हवा के झौंके से वह पास खड़े हुए पाण्डवों पर आ गिरी, लोगों ने कहना शुरू कर दिया कि द्रौपदी ने पाँचों का वरण किया है। जिनसेन ने अपने इस कथन का आगे भी समर्थन किया है कि युधिष्ठिर और भीम द्रौपदी को बहु जैसा मानते थे, नकुल और सहदेव माता के समान। द्रौपदी भी युधिष्ठिर और भीम को अपने श्वसुर पाण्डव के समान ही सम्मान देती थी तथा नकुल और महदेव दोनों देवरों में अर्जुन के प्रेम के अनुरूप उचित बुद्धि रखती थी।

इसी तरह जिनसेन ने कीचक को विराट का सेनापति न बताकर उसका साला बताया है। भीम ने कीचक को द्रौपदी से छेड़खानी करने पर जान से नहीं मारा केवल मुट्ठियों से अधमरा कर क्षमादान दे दिया। कीचक बाद में सांसारिक दशा पर विचार करता हुआ साधु हो गया।[1]

सामान्यतः कौरव और पाण्डवों के पारस्परिक कलह को महाभारत के युद्ध का मूल कारण माना जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में जरासन्ध और यादववंशी श्रीकृष्ण नारायण तथा बलभद्र को इस युद्ध का कारण बताया गया है। इसी ग्रन्थ में एक ओर जरासन्ध की ओर से कौरव और दूसरी ओर कृष्ण की ओर से पाण्डव युद्ध करते है। भगवान नेमिनाथ ने भी इस युद्ध में भाग लिया। अन्त में पाण्डव और दुर्योधन आदि सब जिनदीक्षा लेकर निर्वाण प्राप्त करते हैं।

नारद की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि सौर्यपुर में सुमित्र नामक तापस और सोमयशा नामक स्त्री से चन्द्रकान्ति के समान एक पुत्र

---

1. हरिवंशपुराण, 46·24

रत्न प्राप्त हुआ। एक दिन बालक को एक वृक्ष के नीचे रखकर वे दोनों उञ्छवृत्ति के लिए चले गये। इतने में जृम्भकदेव पूर्वभव के स्नेह से बालक को वैताढ्य पर्वत पर ले गया। उन्होंने उसका कल्पवृक्षों से उत्पन्नाहार द्वारा भरण-पोषण किया। आठ वर्ष की ही अवस्था में उसे जिनागम और आकाश गामिनि विद्या प्रदान की। वही आगे चल कर नारद नाम से प्रसिद्ध हुआ। नारद अनेक विद्याओं के ज्ञाता तथा नाना शास्त्रों में निपुण थे। वे साधु के वेश में रहते थे तथा साधुओं की सेवा से संयमासंयम देशव्रत प्राप्त किया था। वे काम को जीतने वाले होकर भी काम के समान विभ्रम को धारण करने वाले थे। कामी मनुष्यों को प्रिय, हास्यस्वभावी, अलोलुपी, चरमशरीरी,[2] निष्कषायी तथा युद्ध प्रिय थे। महान् अतिशयों के देखने का कौतूहल होने से लोक में विभ्रमपूर्वक परिभ्रमण करते थे।[3]

इसी ग्रन्थ में 49 वें सर्ग में दुर्गा की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है। श्री-कृष्ण की छोटी बहन आर्यिका होकर विन्ध्याटवी में तपस्या करने लगी। भीलों ने इसे देवी समझ कर वरदान प्राप्ति के लिए प्रार्थना की, और 'मौनं सम्मतिलक्षणं' के अनुसार धन लूटने की आशा में निकल पड़े। अपने उद्देश्य में सफलता पाकर पुनः देवी के पास प्रार्थनायें करने लौटे। इधर देवी का सिंह ने खा डाला था, केवल तीन अंगुलियां ही शेष पड़ी हुई थीं। रुधिर व्याप्त उस क्षत्र को देखकर देवीजी रुधिर में ही संन्तुष्ट होती है, सोचकर उन्हीं तीनों अंगुलियों को देवता के रूप में संस्थापित कर दिया और जगली जीवों का बलिदान करने लगे। इस बलिदान से वहाँ की चतु-दिशायें दुर्गन्ध होने लगी। मक्खियां और मच्छर मंडराने लगे। बाद में उन्हीं अंगु-लियों में त्रिशूल की कल्पनाकर कवियों ने उसे दुर्गा देवी बना दिया।[4]

जब ऋषभदेव पालकी पर सवार हो दीक्षा स्थान पर पहुँचे तब प्रजा भी उनके वियोग से शोकातुर हो वहाँ पहुँची। भगवान् ने प्रजा से कहा कि मैं आप लोगों की सेवा के लिए भरत को छोड़ कर जा रहा हूँ, आप धर्म मे स्थित हो उसकी

2. चरमशरीरस्य (ग० टि०, म० टि०)। नारदस्य चरमशरीरत्वमाम्नायविरुद्धमस्ति अतः 'अन्त्यदेहस्य' स्थाने 'अत्यदेहस्य' इति पाठो योजनीयः। न विद्यते देहो यस्य सोऽदेहः कामः, तमतिक्रान्त इत्यदेहस्तस्य, कामबाधारहितस्येति तदर्थः। एवं 22 तमे श्लोकेऽपि 'अन्त्यदेहः' इत्यस्य स्थाने 'अत्यदेहः' इति पाठो योजनीयः (पन्नालाल शास्त्री)।

3. हरिवंशपुराण, 42।13–23

4. वही, 46।26–34

सेवा करें, वह आपकी सेवा का पात्र है। तदन्तर प्रजा ने उनकी पूजा की। जिनसेनाचार्य कहते हैं कि जिस स्थान पर पूजा की, वह स्थान आगे चलकर पूजा के कारण प्रयाग नाम को प्राप्त हुआ।[5]

द्वारिकापुरी के स्थापना के विषय में जिनसेन ने वर्णन किया है कि प्रशस्त तिथि में मंगलाचार की विधि को जानने वाले कृष्ण ने अपने बड़े भाई बलभद्र के साथ स्थान ग्रहण करने की अभिलाषा से तीन दिन का उपवास किया। तत्पश्चात् पंच परमेष्ठियों का स्तवन करने वाले धीर वीर कृष्ण जब समुद्र के तट पर नियमों से स्थित होने के कारण डाभ की शय्या पर उपस्थित थे तब सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से गौतम नामक देव ने आकर समुद्र को शीघ्र ही दूर हटा दिया। तदन्तर श्रीकृष्ण के पुण्य और नेमिनाथ के सातिशय भक्ति से कुवेर ने शीघ्र ही वहाँ द्वारिका नामकी उत्तमपुरी की रचना की।

सामुद्रिक शास्त्र का वर्णन करते हुए जिनसेनाचार्य कहते हैं कि राजा के पैर मछली, शंख तथा अंकुश आदि के चिन्हों से युक्त होते हैं, कमल के भीतरी भाग के समान उसका मध्य भाग होता है, उनकी अँगुलियों के पोर एक दूसरे से सटे होते हैं, उनके नख चिकने व लाल होते हैं उनकी गाँठें नसों से रहित तथा छिपी रहती हैं, कछुए के समान कुछ कुछ उठे होते हैं और पसीना से युक्त रहते हैं। पापी के पैर सूपा के आकार, फैले हुए, नसों से व्याप्त टेडे, रूखे नखों से युक्त, सूखे एवं विरल अँगुलियों वाले होते हैं। जो पैर छिद्र सहित एवं कषैले रंग के होते हैं वे वंश का नाश करने वाले माने गये हैं। हिंसक मनुष्यों के पैर जली हुई मिट्टी के समान और क्रोधी के पीले रंग के होते हैं।

जिसकी पिंडलियाँ छोटे छोटे रोमों से युक्त तथा उपर को गोल होती जाती हैं तथा जिनके घुटने अच्छे हैं और जाँघे गोल हैं वे भाग्यशाली होते हैं। इसके विपरीत जिसकी पिंडलियाँ, घुटने तथा जाँघे सूखी हैं वे निन्दनीय हैं।

राजा के एक रोम-कूप में एक रोम होता है, विद्वानों के एक रोम-कूप में दो रोम होते है और मूर्ख तथा निर्धन मनुष्यों के तीन या अधिक रोम होते हैं। यह नियम केशों पर भी होता हैं।

बच्चे का लिंग यदि छोटा, दाहिनी ओर कुछ टेढा और मोटी गाँठों से युक्त है तो शुभ है इसके विपरीत लक्षण अशुभ के द्योतक हैं। छोटे अण्डकोष वाले शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं, विषम अण्डकोष वाले स्त्रियों को वश में करते हैं। जो राजा होता है उसके अण्डकोष सम होते है, और जिनके नीचे की ओर लटकते रहते हैं वे दीर्घजीवी होते है। जिनका पेशाब शब्द सहित होता हैं वह सुखी होता है। इसके विपरीत शब्द रहित वाला दुःखी होता है। पेशाब करते समय जिनके मूत्र की

5. वही, 9।96

पहली और दूसरी धारा दाहिनी ओर पड़ती है वे धनी होते है, और जिसकी इसके विपरीत पड़ती है वे निर्धन होते हैं। पुष्ट नितम्ब वाला व्यक्ति सुखी होता है, स्थूल वाला दरिद्र और ऊँचा उठे नितम्ब वाला व्याघ्र से मारा जाता है।

सिंह के समान पतली कमर वाला राजा होता है जबकि ऊँट या बन्दर के समान कमर वाला धनी। जिसका पेट न छोटा और न बड़ा हो वह सुखी और घड़े के समान पेट वाला दुःखी होता है, साँप की तरह लम्बे पेटवाला दरिद्र एवं बहुत भोजन करने वाला होता है।

जिनकी पसलियाँ भारी होती है वे सुखी होते है, उँची, नीची, टेढी पसलियों वाले भोग रहित होते हैं, किन्तु नीची कुक्षि वाले धनहीन होते हैं। समकुक्षि वाले भोगी, असम वाले भोग रहित, विषम वाले निर्धन और उठी हुई कुक्षि वाले निर्धन होते हैं।

चौड़ी, ऊँची और गहरी गोल नाभि वाला सुखी होता है, छोटी नाभि वाला दुःखी होता है। कमल कर्णिका नाभि वाला राजा होता है, विस्तृत नाभि वाला दीर्घायु और धनवान होता है। इसी प्रकार एक वलि वाला शास्त्रार्थी, दो वलि वाला स्त्री-प्रेमी, तीन वाला आचार्य, चार वाला अधिक सन्तानवाला, तथा जिसके एक भी वली नहीं हो वह राजा होता है।

जिन मनुष्यों के स्तनों के अग्रभाग छोटे और स्थूल होते है वे उत्तम भाग्यशाली होते है। इसके विपरीत निर्धन होते है।

धनी मनुष्यों की बगल पसीनों से रहित, पुष्ट और समान रोमों से युक्त होता हैं। निर्धन की गरदन नशों से युक्त एव चपटी होती है। जबकि शख जैसी गरदन वाला राजा होता है, भैंस जैसी गरदन वाला शूरवीर होता है। जिसकी पीठ रोम से रहित और सीधी हो, वह शुभ होती है, झुकी हुई और रोमों से युक्त पीठ अशुभ होती है। निर्धन के कन्धे छोटे अपुष्ट एव रोमों से व्याप्त होते है, जबकि पराक्रमी और धनवान के कन्धे सटे हुए एव पुष्ट होते है। स्थूल सम, लम्बे एव हाथी की सूण्ड के समान हाथ वाले राजा होते हैं। परन्तु निर्धन के हाथ छोटे और रोमों से युक्त रहते है। कोमल तथा लम्बी अगुंलियों वाले दीर्घायु होते है, निर्धन मनुष्य की की बाल रहित और बुद्धिमान की छोटी-छोटी होती है। निर्धन मनुष्य के हाथ स्थूल रहते है, सेवकों के हाथ चिपटे होते है, वानरों के समान हाथ वाले मनुष्य धनाढ्य होते है और व्याघ्र के समान हाथ वाले शूरवीर होते है।

जिनकी कलाई अत्यन्त गूढ एवं सुश्लिष्ट संधियों से युक्त होती है वे राजा होते हैं, किन्तु ढीली और सशब्द कलाई वाले दरिद्री होते हैं। गहरी तथा भीतर को दबी हथेली वाले नपुंसक तथा पिता के धन से रहित तथा गहरी एवं भरी हथेली वाले धनी होते हैं। धनी लगों की हथेली लाल होती है, इसके विपरीत पीली हथेली

वाले अगम्यगामी और रूक्ष हथेली से युक्त व्यक्ति सौन्दर्य से रहित होता है। उठी हुई हथेली वाला दानी होता है। तुष के समान नख वाला नपुंसक, फटे नाखून वाला निर्धन, लाल नाखून वाला सेनापति, भद्दे नाखुन वाला व्यर्थ के तर्क वितर्क करने वाला होता है।[6]

पतली और लम्बी डाढी वाले निर्धन तथा पुष्ट वाले धनी होते हैं। बिम्बफल के समान लाल ओंठ वाला राजा होता है। सम और स्निग्ध दृढ तथा सघन एवं सफेद दांत, लम्बी और कोमल जीभ वाले भोगी होते हैं। कानों पर रोम वाले दीर्घायु सीधी और समान छोटे छिद्रो वाली नाक वाले भोगी होते हैं।

जिसको एक छींक आए वह धनी, दो तीन वाला विद्वान्, लगातार छींक वाला दीर्घायु होते हैं। जिनकी आखें अन्त में लाल और कमल पत्र के समान हों वे राजा होते है। बिल्ली के समान जिनकी आखें होती है वे मन, वचन, कर्म से पाप पूर्ण होते है एवं अभागे एवं निर्दयी होते है।

जिनका मुख भरा हुआ, सौम्य, सम और कुटिलता रहित होता है वे राजा होते हैं, बड़े मुख वाले अभागे और गोलमुख वाले मुर्ख होते हैं। स्त्री के समान मुख वाले निर्धन होते है।

हरिवंशपुराण मे भौगोलिक सामग्री भी पर्याप्त है—भगवान ऋषभदेव की दीक्षा के प्रकरण मे चारों दिशाओं के अनेक नगरों का उल्लेख है—कुरूजागंल, पंचाल, सूरसेन, पटच्चर, यवन, काशि, कौशल्य, मद्रकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य कुणीयान् कौशल और मोक ये मध्य देश थे। वाह्लिक आत्रेय, काम्बोज, यवन, आभीर, मद्रक, क्वाथतोय, शूर, वाटवान, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशेरूक, प्रास्थाल और तीर्णकर्ण ये देश उत्तर की ओर स्थित थे। खंग,अगांरक, पौण्ड्र, मल्ल, प्रवक, मस्तक: प्राग्ज्योतिष, बंग, मगध मानवर्तिक, मलद, और, भार्गव, ये देश पूर्व दिशा में स्थित थे। बाणमुक्त, वेदर्भ माणव सककापिर, मूलक, अश्मक, दाण्डिक, कलिंग, आंसिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिस्क, पुरुष और भोगवर्दन ये दक्षिण दिशा के देश थे। माल्य, कल्लिवनोपान्त, दुर्ग, सूपार, कबुंक, काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, महिम, भरूकच्छ, सुराष्ट्र, और नर्मद ये पश्चिम दिशा में देश थे। दशार्णक, किष्किन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पतन और विनिहात्र ये देश विन्ध्याचल के ऊपर स्थित थे। भद्र, वत्स, विदेह, कुश, भंग, सैतव और वज्रखण्डिक ये देश मध्य-देश के आश्रित थे।[7]

6. वही, 26:59–507
7. वही, 11:57–71

तत्कालीन सामाजिक जीवन की जानकारी इस प्रकार आई है —लोगों में विभिन्न प्रकार के वस्त्र और आभूषणों का भी प्रचलन था। वस्त्रों में दुकूल, क्षौम, चिनांशुक, पटवास, वलकल आदि और आभूषणों मे मुकुट, कुण्डल, केयूर, चूड़ामणि, कटक, कंकण, मुद्रिका, हार, मेखला, कटिसूत्र, कंठक, रत्नावली, नूपुर आदि का प्रचलन था। प्रसाधन सामग्रियाँ भी अनेक थीं। साधारण से लेकर बहुमूल्य सामग्रियाँ व्यवहृत होती थीं। चन्दन, कुमकुम, अंगराग,आलक्तक अजन, शतपाक, तेल, सहस्त्र पाक तेल, गध (इत्र) अनेक सुगन्धित द्रव्य, मिश्रित लेप, सिन्दूर, कस्तुरी, माला, ताम्बूल, आदि के व्यवहार का उल्लेख मिलता है। पुरुष और महिलाएं दोनों ही गहने और सजीले वस्त्र से अपने अंग सजाते थे। विभिन्न प्रकार के लेप-गंध आदि भी लगाते थे।

मनोरंजन के लिए नाटक, गीत, वाद्य, चित्रकला, छन्द रचना, द्यूत, जलक्रीड़ा वृक्षारोहण क्रीड़ा, आदि का प्रमुखता से प्रचलन था। विशेष अवसरों पर सामूहिक महोत्सव भी होते थे।

आवागमन और भार वहन के लिए घोड़े, हाथी, खच्चर, बैल, शकट रथ, नाव, पोत आदि का व्यवहार होता था। मकान कच्चे और पक्के दोनों तरह के बनते थे। फूल की कुटिया और पर्वत गुफाओं से लेकर सतखण्डे महल तक बनते थे। मकान काठ, ईंट तथा पत्थर के जिनकी जहाँ सुविधा होती बनते थे।

उन दिनों भी व्यायाम करने की प्रक्रिया आज जैसी ही थी। गोलाकार अखाड़ा होता था जिसमें पहलवान लोग अपने अपने दावपेच दिखाते थे। इस ग्रन्थ को देखने से यह भी पता चलता है कि आजकल जो मुष्टियुद्ध लोकप्रिय हो रहा है वह पाश्चात् देशों की देन नहीं है, हमारे देश मे प्राचीन-काल मे मुष्टि युद्ध का आम रिवाज था। श्री कृष्ण और बलभद्र ने चाणूर और मुष्टिक पहलवान को मुष्टियुद्ध से ही पराजित किया था।

प्रथाओं में दहेज प्रथा का भी उल्लेख है। यद्यपि स्पष्ट रूप से 'दहेज' शब्द का न नाम आता है। और न उसकी माँग की जाती है। खुशी से लड़की वाला लड़के को यथाशक्ति और यथेच्छानुसार दे देता था।

उस समय मामा की लड़की से भी शादी की जा सकती थी।

आर्थिक दृष्टि से भी तत्कालीन भारतवर्ष सम्पन्न था। कृषि, पशुपालन, व्यापार, वाणिज्य, कला-कौशल मे भी यह देश प्रचुर प्रगति कर चुका था। आन्तरिक व्यापार के साथ ही विदेशों से भी जलपोतों के सहारे व्यापार होता था।

दूर देशों और विदेशों में व्यापार वाणिज्य के लिए कई व्यापारी समूह में जाते थे। और मार्ग दिखाने के लिए सार्थ होते थे। सार्थों को मार्ग का पूरा ज्ञान होता था

और निरापद यात्रा के लिए उनका सहयोग आवश्यक अथवा अनिवार्य था। सार्थ सम्पन्न भी होते थे।

पुराण में वर्णित राजनीतिक विवरणों से ज्ञात होता है कि उस काल में राज्य प्राय. दो प्रकार के थे—राजतन्त्रात्मक और गणतन्त्रात्मक। गणतन्त्रात्मक इस काल की प्रमुख प्रचलित शासन प्रणाली थी।

राजतन्त्रों का राजा निरंकुश नहीं होता था। वह मंत्री परिषद् की राय से कार्य करता था और प्रजा की भावना का समादर करता था। गणतन्त्र में कहीं-कहीं एक मुख्य राजा होता था, कहीं-कहीं गणराजाओं की परिषद् थी। कुछ एक महत्त्वाकांक्षी विस्तार-लोलुप सम्राट भी थे। और कभी-कभी वे युद्ध तक भी कर बैठते थे। जरासन्धादि इसके उदाहरण हैं।

गणतन्त्रों के सम्बन्ध प्राय: आपस में अच्छे थे। कारण विशेष से कभी-कभी विवाद भी हो उठते थे। नदी , परिवहन ग्राम आदि के कारणों से विवाद उठना ही इनमें मुख्य थे। कभी-कभी किसी कन्या को लेकर भी झगड़े खड़े हो जाते थे

राजा की मृत्यु अथवा उसके किसी कारण से अपदस्त होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्याधिकारी होता था। राज्य शासन पर बैठने से पूर्व उसका अभिषेक होता था।

पुराणकालीन भारतीय समाज युद्ध-कला एवं युद्ध-विज्ञान के अन्तिम शिखर पर आरूढ था। स्वार्थसिद्धि के लिए देव, असुर, मानव और पशु सबका परमसाधन एक मात्र युद्ध ही था। युद्ध-भूमि पर मरमिटने में तनिक संकोच अथवा कार्पण्य नहीं था। मनुष्यो और पशुओं के मध्य पारस्परिक मल्लादि युद्धों के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। रथ और पदाति आदि भेदों से युद्ध के अनेक प्रकार दृष्टिगत होते हैं। व्यवहारिक युद्धक्षेत्र में अवतीर्ण होने वाले स्त्री, वैश्य, और शूद्र का कोई प्रसंग उपलब्ध नहीं है।

अस्त्रशस्त्र अनेक प्रकार के थे-काष्ठनिर्मित, प्रस्तर निर्मित, लौहनिर्मित एवं स्वर्णनिर्मित आदि। कतिपय शस्त्रास्त्रों में अदभुत चमत्कृतिपूर्ण अलौकिक शक्ति प्रदर्शित की गई है।

हरिवंशपुराण का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि उसमें आचार्य जिनसेन ने अनेक जैन परम्पराओं का उल्लेख कर दिया है। भार्गव ऋषि की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध में बताया गया है कि भार्गव का प्रथम शिष्य आत्रेय था। उसका शिष्य कोथुमि, कौथुमि का अमरावर्त, अमरावर्त का सित, सित का वामदेव,

वामदेव का कपिष्ठल, कपिष्ठल का जगत्स्थामा, जगत्स्थामा का सरवट, सरवट का सराशन, सराशन का रावण, रावण का विद्रावण, विद्रावण का पुत्र द्रोणाचार्य था। यह परम्परा इस रूप में अन्यत्र देखने को नहीं मिलती।

इस तरह भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद की आचार्य परम्परा भी ग्रन्थ के अन्त में दे दी गई हैं। वहाँ बताया गया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद 62 वर्ष क्रमशः गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। उनके बाद सौ वर्ष में समस्त पूर्वों को जानने वाली नन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। बुद्धिल गंगदेव और सुधर्मा ये ग्यारह मुनि 10 पूर्व के धारक हुए। उनके बाद 220 वर्ष में नक्षत्र, जयमाल, पाण्डु ध्रुवसेन कंपार्य ये पांच मुनि ग्यारह अंग के धारी हुए। तदन्तर 118 वर्षों में सुभद्रगुरु, जयभद्र, यशोबाहु और महापूज्य लोहार्यगुरु ये चार मुनि आचारागं के धारी हुए।

इसके बाद महातपस्वी विनयन्धर, गुप्तश्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर, शिवगुप्त, अर्हदबली, मन्दरार्य, मित्रवीरवि, बलदेव, मित्रक, सिंहबल, वीरवित, पद्मसेन, व्याघ्रहस्त, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, स्वामीदीपिसेन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिसेन, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन, और शान्तिसेन आचार्य हुए। तदन्तर षट् खण्डों (जिवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबन्ध) के ज्ञाता कर्म प्रकृति रूप श्रुत के धारक जयसेन नामक गुरु हुए। उनके शिष्य अमितसेन गुरु हुए जो प्रसिद्ध वैयाकरण प्रभावशाली और समस्त सिद्धान्तों के ज्ञाता थे। ये पवित्र पुन्नाटगण के आचार्य थे। जिनेन्द्र शासन के स्नेही, परमतपस्वी, 100 वर्ष की आयु के धारक, एवं दाताओं में मुख्य, इन अमितसेन आचार्य ने शास्त्र दान के द्वारा पृथ्वी मे अपनी वदान्यता प्रकट की थी। इन्ही अमितसेन के अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण मुनि थे। जो बहुत ही शान्त तपस्वी एवं पूर्ण बुद्धिमान् थे। उनके प्रथम शिष्य आचार्य जिनसेन हुए जो इस हरिवंशपुराण के रचयिता हैं।

इसी प्रकार वेदों की उत्पत्ति (23।42–45), यादव वंश की उत्पत्ति (18।6), साकेत का नामकरण (8।150), नागपुर और मथुरा का नामकरण (17।162) आदि अनेक ऐसी बातें हैं। जिनका हरिवंशपुराण का वर्णन परम्परागत वर्णन से नितान्त भिन्न है। आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में जैन धर्मशास्त्र, और संगीतशास्त्र का भी पर्याप्त विवरण दिया है। उन्होंने राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में लोकालोक विभाग का सांगोपाग निरूपण (4. 5. 6. 7, वां सर्ग)

भगवान नेमिनाथ की दिव्य ध्वनि के प्रकरण में सप्त तत्त्वों का पर्याप्त विवेचन (47 वाँ सर्ग), उपवासों की विधि और प्रकार (34 वाँ सर्ग), आहारदान देने की प्रक्रिया (9।200) और द्वादशांग आदि का वर्णन (10 वाँ सर्ग) बड़े ही सुन्दरढंग से किया है।

हरिवंश की इस बहुविध सामग्री को देखकर निःसंदिग्धरूपसे यह कहा जा सकता है कि जिनसेन ने भारतीय वाङ्मय को एक अमूल्य ग्रन्थ रत्न प्रदान किया है।

—— ——

निष्कर्ष

जिनसेन के हरिवंशपुराण के आलोक में ग्यारह अध्याय हैं—

1. पुराण–विवेचन,
2. हरिवंशपुराणकार जिनसेनाचार्य : व्यक्तित्व एवं कृतित्व,
3. जैनपुराण साहित्य और उसमें हरिवंशपुराण का स्थान,
4. संस्कृति के मूल तत्व
5. हरिवंशपुराण कालीन सामाजिक जीवन
6. हरिवंशपुराण कालीन राजनीतिक जीवन
7. हरिवंशपुराणकालीन आर्थिक जीवन
8. हरिवंशपुराण कालीन धार्मिक जीवन
9. पुराण के पात्रों का चरित्र-चित्रण,
10. हरिवंशपुराण में दार्शनिक तत्व,
11. भारतीय संस्कृति को हरिवंशपुराण का योगदान,

पुराण पुराकाल में विद्यमान होने के कारण पुराण कहलाता है (पुरा विद्यते इति पुराणम्)। प्राचीन काल में ऐसा हुआ था, इस पर जोर देने के कारण भी पुराण संज्ञा सार्थक होती है।

वैदिक परम्परा की भांति हरिवंशपुराण में भी पंचलक्षणों का पालन किया गया है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि जैनधर्म विश्व को जड़ चेतन रूप से अनादि-अनन्त मानता है। किन्तु उसका विकास कालचक्र के आरोह-अवरोह क्रम से ऊपर-नीचे की ओर परिवर्तन शीलता को लिए हुए बदलता करता है। अतः हरिवंशपुराण में सर्ग और प्रतिसर्ग के स्थान पर विश्व के इस स्वरूप तथा कालचक्र के आरों का उत्सर्पिणी और अवसर्पण व लोक व्यवस्था में हेर-फेर का विवरण दिया गया है। वंशों मनुओं तथा वंशानुचरितों का इस पुराण में भी परम्परानुसार वर्णन है।

पुराणों की गणना में व्यास के अट्ठारह पुराणों के अतिरिक्त, नौ बौद्ध-पुराणों का भी उल्लेख किया गया है–प्रज्ञा परामिता, गण्डव्यूह, समाधिराज, लंकावतार, गुह्यक, सद्धर्मपुण्डरीक, बुद्ध या ललित-विस्तर, सुवर्णप्रभा और दशभूमीश्वर। बौद्ध-पुराणों के अतिरिक्त जैन-पुराण भी अनेक हैं जिनमें पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, महापुराणादि प्रमुख हैं। जैन-पुराण संस्कृत, अपभ्रंश तथा कन्नड़ भाषा में प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत पुराणकार जिनसेन आदिपुराणकार जिनसेन से भिन्न हैं। हरिवंश पुराण का प्रारम्भ वर्द्धमानपुर में किया गया तथा समाप्ति शक् सम्वत् 705 में दोस्तटिका ग्राम के शान्तिनाथ मन्दिर में हुई। जिनसेनने अपने से पूर्ववर्ती विद्वानों में समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दि, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, जटासिंहनन्दि, शान्त, विशेषवादि, कुमारसेन, वीरसेन, जिनसेनस्वामी. वर्धमानपुराण के कर्ता आदि का उल्लेख किया है।

हरिवंशपुराण अनेक ग्रन्थों का आधार बना है विशेषतः छठे श्रुतांग, णायाधम्म कहाओ एवं आठवें अन्तगड़दसाओ, वसुदेवहिण्डी आदि प्राकृत ग्रन्थों का। ये सब ग्रन्थ भी हरिवंश सम्बन्धी कथाओं के महान् आकर हैं। हरिवंशपुराण में यादवकुल और उसमें उत्पन्न दो शलाका पुरुषों का चरित्र-चित्रण विशेष रूप से किया गया है। प्रसंगवश अन्य कथाओं का भी उल्लेख हुआ है।

जैन पुराणों में हरिवंशपुराण का समय की दृष्टि से दूसरा और सिद्धान्तों के वर्णन और व्याख्या आदि की दृष्टि से प्रथम तथा महत्वपूर्ण स्थान है। हरिवंश विषयक संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश में प्राचीन रचनाएं बहुत संख्या में हैं। हरिवंश पुराण नाम से संस्कृत में धर्मकीर्ति, सकलकीर्ति, जयसागर, जिनदास व मंगरस कृत जैन रचनाएं हैं।

संस्कृति शब्द सम् पूर्वक कृ धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से बना है। संस्कृति मानव जीवन के उन सब तत्वों के समाहार का नाम है जो धर्म और दर्शन से प्रारम्भ होकर कला-कौशल, सम्मान और व्यवहार आदि में अन्त होते हैं।

अहिंसावाद, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, अपरिग्रहवाद, कर्मवाद, जीवस्वातन्त्र्य, ईश्वर कर्ता हर्ता नहीं है, बिना किसी निमित्त कारण के स्वयं निर्मित सृष्टि की परिकल्पना, आत्मा के अमरत्व की स्वीकृति आदि जैनसंस्कृति की विशेषताएं हैं।

श्रमण संस्कृति भारत की एक महान् संस्कृति और सभ्यता है जो प्रागैतिहासिक काल से ही भारत के विविध अंचलों में फलती-फूलती रही है। यह एक स्वतन्त्र संस्कृति है। इस संस्कृति की विचारधारा वैदिक विचारधारा से पृथक् है। वैदिक

संस्कृति प्रवृत्ति प्रधान है और श्रमण संस्कृति निवृत्ति प्रधान है। वैदिक संस्कृति विस्तारवादी है और श्रमण संस्कृति श्रम, श्रम, सम प्रधान है। वैदिक संस्कृति का प्रतिनिधि ब्राह्मण है, श्रमण संस्कृति का श्रमण है। जो बाह्य दृष्टि से विस्तार करता है वह ब्राह्मण है और जो शान्ति तपस्या व समत्वयोग की साधना करता है वह श्रमण है। ब्राह्मण संस्कृति ने ऐहिक अभ्युदय पर बल दिया है जबकि जैन संस्कृति ने पारलौकिक पर बल दिया है। दोनों का लक्ष्य पृथक्-पृथक् होने से दोनों संस्कृतियों में मौलिक अन्तर है।

हरिवंशपुराण में एक संगठित समाज का स्वरूप मिलता है। समाज में चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की स्थिति ज्ञात होती है पर उनके घेरे कठिन नहीं थे। चारों वर्गों के अतिरिक्त भी समाज में अन्य व्यावसायिक और औद्योगिक वर्ग थे, इनमें रंजक, चाण्डाल, चर्मकार, स्वर्णकार, दारुशिल्पी आदि प्रमुख हैं।

प्राचीनकाल से ही विवाह जीवन की सर्वोत्कृष्ट घटना मानी जाती रही है। उसका इस काल में ह्रास देखने को मिलता है। विवाह अब दैविक विधान न रहकर योग्यता, पराक्रम और शक्ति का मापदण्ड रह गया था। इसकाल में स्मृतियों में प्रतिपादित आठ प्रकार के विवाहों में से ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य और आर्ष को धर्म-सम्मत माना जाता था, अन्य विवाहों के प्रकार (आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) को निन्दतीय या परित्याज्य माना जाता था।

इस काल में उक्त आठ विवाह विधियों में से कोई भी एक विशुद्ध रूप मे प्रचलित नही थी। समाज में ऊंचे आदर्शों के बीच स्थान न मिलने पर भी गान्धर्व व राक्षस विधि का प्रसार था। अन्य विवाहों में वाग्दान से, भविष्यवाणी से, साटे से, विवाह विधवा विवाह एवं विधुर विवाह आदि होते थे। समाज में बहु पत्नी प्रथा प्रचलित थी। मातुल कन्या से विवाह सम्भव था। विवाह में दहेज लेने व देने का रिवाज भी था।

विवाह दो विकसित व्यक्तियों का सम्बन्ध था। कन्याएं पिता के घर में ही युवा हो जाती थीं। वे विवाह की इच्छा से अपने को अलंकृत सी रखती थी।

इस समय स्त्री जाती का समाज म कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं था। स्त्रियाँ पुरुषों की इच्छा के अनुसार उसके उपयोग के लिए उपकरण मात्र थीं। स्त्रियों को चल सम्पत्ति के रूप में माना जाता था।

संस्कृति के विषय में राज्य और सरकार का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस काल मे प्राय: राजतन्त्रात्मक और गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली थी। राजा का पद परम्परागत होता था। राजा के अपदस्थ होने पर उसका जेष्ठ पुत्र राज्याधिकारी होता था। पुत्र-विहीन राजा का उत्तराधिकारी उसकी पुत्री का पुत्र होता था। राज्यासन पर पदा रूढ़ होने से पूर्व अभिषेक होने की परम्परा थी।

इस काल का भारतीय समाज युद्ध-विज्ञान में पर्याप्त उन्नति कर चुका था। स्वार्थसिद्धि के लिए देव, असुर, मानव और पशु सबका चरम साधन एक मात्र युद्ध ही था। पशुओं और मनुष्यों में भी युद्ध होने के उदाहरण दृष्टिगत होते हैं।

इस काल में रथयुद्ध, पदातियुद्ध, मल्लयुद्ध प्रभृति विविध प्रकार के युद्धों के उदाहरण मिलते हैं। युद्ध में प्रमुखतः हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सैनिक, बैल, गन्धर्व और नर्तकी ये सात अंग होते थे। व्यूहों में क्रौंच, गरुड़, चक्रादि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। असि, उल्लूखल, कायत्राण, कार्मुक, कौमुदगदा, खंग, खुर, गदा, गाण्डिव, चक्र, जानु, तल, तोमर, त्रिशुल, दण्ड, बाणादि अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र थे। कतिपय शस्त्रास्त्रों में अद्भुत चमत्कृतिपूर्ण अलौकिक शक्ति भी थी।

हरिवंश कालीन व्यक्ति का जीवन सभ्य और सुसज्जित था। वह विविध परिधानों द्वारा शरीर का अलकरण करता था। उसके वस्त्रों में वासस्, उपवासस् नीवि, कम्बल आदि प्रमुख थे। स्त्रियां केशों का कई रीतियों से शृंगार करती थी। पुरांगनाएं उबटन, महावर आदि लगाया करती थीं। वृद्धाएं प्रायः त्रिपुण्डाकार तिलक लगाती थीं। इसके साथ ही आभूषणों में मुकुट, कुण्डल, केयूर, कटक, कंकण, मुद्रिका, हार, मेखला, कटिसूत्र, कंठक, नूपुर आदि का रिवाज था। ये सामान्यतः स्वर्ण, चांदी तथा रत्नों से निर्मित होते थे।

विश्राम के लिए शय्या (आशन्दी), उपधान, पर्यंकादि हुआ करते थे। मनोरंजन के लिए नृत्य संगीत, वाद्य और गेय, द्यूत-क्रीड़ा, वैश्यागमन आदि का प्रयोग होता था।

समाज में शाकाहारी और मांसाहारी दोनों ही तरह के भोजन भोज्य होते थे। शाकाहारी भोजन में जौ, धान, गेहूं, उड़द आदि मुख्य थे। पशुओं का मांस मांसाहारियों के लिए भोजन में सम्मिलित होता था। पेय पदार्थों में दूध, मधु और सुरा उल्लेखनीय हैं।

आर्थिक दृष्टि से तत्कालीन भारतवर्ष सम्पन्न था। कृषि पशुपालन, व्यापार वाणिज्य, कला-कौशल में यह देश प्रचुर प्रगति कर चुका था आन्तरिक व्यापार के साथ ही विदेशों से जल-पोतों के द्वारा व्यापार होता था। यहाँ से कपास और बहुमूल्य रत्नादि का व्यापार किया जाता था। दूर देशों या विदेशों से व्यापार के लिए कई व्यापारी समूह में जाते थे और मार्ग दिखाने के लिए सार्थ होते थे। सार्थों को मार्ग का पूरा ज्ञान होता था।

यदि धर्म और विश्वास जाति या समाज की संस्कृति की उत्कृष्टता और निकृष्टता का द्योतक है तो हरिवंशपुराण एक ऐसे व्यक्ति के धार्मिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है जो तपः प्रधान था। हरिवंशपुराण का समस्त वर्णन किसी न किसी प्रकार से मुक्ति आदि कार्यों से सम्बद्ध है। तीर्थंकरों, पंच परमेष्ठियों के स्तवन

के साथ-साथ विभिन्न आचारों और व्यवहारों का भी वर्णन किया गया है। पुराण में सर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्रादि अनेक व्रतों, उपवासों की विधियों एवं उनके फलों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

पुराण के विशिष्ट पात्रों में नेमिनाथ, कृष्ण वसुदेव, नारद आदि जिनका चरित्र इस प्रकार सामने उभर कर आया है—

नेमिनाथ बाईसवें तीर्थंकर है। जो यादवों के प्रिय और कृष्ण के चचेरे भाई थे। नेमिनाथ राजा समुद्रविजय के घर महारानी शिवादेवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। उनका विवाह मथुरा राजा के उग्रसेन की कन्या राजीमति के साथ होना निश्चित हुआ था। लेकिन जब वे बरात लकर वहाँ पहुँचे तो उन्हें बाड़े में बन्धे हुए पशुओं की चीत्कार सुनाई दी। ज्ञात हुआ की उन पशुओं को मारकर बरातियों के लिए भोजन तैयार किया जायेगा। यह सुनकर नेमिनाथ के कोमल हृदय को बहुत आघात लगा। वे उल्टे पैर लौट गये और घर पहुँच कर उन्होंने श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली।

दीक्षा धारण करने से पूर्व नेमिनाथ और कृष्ण के बीच बाहुयुद्ध हुआ था। तदन्तर नेमिनाथ गिरनार पर्वत के सहस्त्रभ्रवन उद्यान में पहुँचकर तप करने लगे।

कृष्ण श्रवण नक्षत्र में भाद्रपद मास की शुक्लपक्ष की द्वादशी को सातवें ही मास में देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए। कृष्ण बाल्यकाल से ही चंचल तथा पराक्रमी थे। उन्होंने नागशय्या पर चढ़ाई की, कालियनाग का मर्दन किया। चाणुर और मुष्टिक पहलवानों को युद्ध में निष्प्राण किया। कृष्ण ने अनेक विवाह किये तथा महाभारत युद्ध में पाण्डवों की ओर से युद्ध किया। अन्त में कृष्ण की मृत्यु उनके ही अनुज से (भूलवश) बाण लगने से हुई।

कृष्ण के पिता वसुदेव थे, वे अत्यन्त पराक्रमी एवं नानाविद्याओं के ज्ञाता थे। इन्होंने अनेकशः कन्याएं प्राप्त कीं तथा महाभारत युद्ध में पाण्डवों की ओर से सक्रिय युद्ध किया।

नारद अनेक विद्याओं के ज्ञाता तथा नाना शास्त्रों में निपुण थे। वे साधु के वेश में रहते थे तथा साधुओं के वैयावृत्य से ही संयमासंयम देशव्रत प्राप्त किया। नारद कामी मनुष्य को प्रिय, हास्यस्वभावी, अलोलुपि, चरमशरीरी, निष्कषायी, तथा युद्धप्रिय थे।

दर्शन के प्रमुख तीन अंग हैं—(1) सम्यग्दर्शन (2) सम्यग्ज्ञान और (3) सम्यक् चारित्र। जैनागम में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष पाप और पुण्य ये नौ तत्व कहे गये हैं। इन जीवाजीवादि तत्वार्थों की सच्ची श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। उनमें से किसी एक निश्चित धर्म को ग्रहण करने वाला नय कहलाता है। इसके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो भेद हैं—इनमें द्रव्यार्थिक नय यथार्थ है और पर्यायार्थिक नय अयथार्थ है। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवम्भूत—ये सात नय हैं। पूर्व तीन तो द्रव्यार्थिक के भेद हैं और अवशिष्ट चार पर्यायार्थिक के भेद हैं।

पापों की पांच प्रणालियां है—हिंसा, असत्य, स्तेय, कुशील, और परिग्रह। इनसे विरक्त होना ही चारित्र है। उक्त पाँचों पापों से पूर्णतः विरक्त का नाम सम्यक् चारित्र है। इसके व्यवहार नय और निश्चत नय को क्रम से श्रावक और मुनि पालन

इसी प्रकार जिनसेन ने हरिवंश में द्रौपदी के पांच पति नहीं (45।63-151) नारद की उत्पत्ति (23।42-45), यादव वंश की उत्पत्ति (18।6), प्रयाग का नामकरण (9।96), साकेत का नामकरण (8।150), नागपुर और मथुरा का नामकरण (17।162) द्वारिकापुरी की स्थापना (41।15-18), लोकालोक विभाग का निरुपण (4, 5, 6, 7, वाँ सर्ग), सप्त तत्वों का विवेचन (47) वाँ सर्ग, उपवासों की विधि और प्रकार (34 वाँ सर्ग), आहार-दान देने की प्रक्रिया (9।200), द्वादशांगादि का वर्णन (10 वाँ सर्ग) बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है जो सभी अपने ढंग के अनुठे हैं।

प्रथम परिशिष्ट

सर्वतोभद्रव्रतचित्रम्

1	2	3	4	5	उपवास
1	1	1	1	1	पारणा
4	5	1	2	3	उपवास
1	1	1	1	1	पारणा
2	3	4	5	1	उपवास
1	1	1	1	1	पारणा
5	1	2	3	4	उपवास
1	1	1	1	1	पारणा
3	4	5	1	2	उपवास
1	1	1	1	1	पारणा

(चित्र संख्या 1)

वसन्तभद्रव्रतचित्रम्

5	6	7	8	9	उपवास
1	1	1	1	1	पारणा

(चित्र संख्या 2

महासर्वतोभद्रव्रतचित्रम्

1	2	3	4	5	6	7	उपवास
1	1	1	1	1	1	1	पारणा
3	4	5	6	7	1	2	उपवास
1	1	1	1	1	1	1	पारणा
5	6	7	1	2	3	4	उपवास
1	1	1	1	1	1	1	पारणा
7	1	2	3	4	5	6	उपवास
1	1	1	1	1	1	1	पारणा
2	3	4	5	6	7	1	उपवास
1	1	1	1	1	1	1	पारणा
4	5	6	7	1	2	3	उपवास
1	1	1	1	1	1	1	पारणा
6	7	1	2	3	4	5	उपवास
1	1	1	1	1	1	1	पारणा

(चित्र संख्या 3)

त्रिलोकसारव्रतचित्रम्

0
0 0
0 0 0
0 0 0 0
0 0 0
0 0
0
0 0
0 0 0
0 0 0 0
0 0 0 0 0

(चित्र संख्या 4)

वज्रमध्यव्रतचित्रम्

(चित्र संख्या 5)

मृदंगमध्यव्रतचित्रम्

(चित्र संख्या 6)

मुरजमध्यव्रतचित्रम्

0 0 0 0 0
0 0 0 0
0 0 0
0 0
0 0
0 0 0
0 0 0 0
0 0 0 0 0

(चित्र संख्या 7)

एकावलीव्रतचित्रम्

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 उपवास

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 पारण

(चित्र संख्या 8)

द्विकावलीव्रतचित्रम्

2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 बेला
1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 पारणा
2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 2 बेला
1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 पारणा

(चित्र संख्या 9)

मुक्तावलीव्रतचित्रम्

0
0 0
0 0 0
0 0 0 0
0 0 0 0 0
0 0 0 0
0 0 0
0 0
0

(चित्र संख्या 10)

रत्नावलीव्रतचित्रम्

0

0 0

0 0 0

0 0 0 0

0 0 0 0 0

0 0 0 0

0 0 0

0 0

0

(चित्र संख्या 11)

रत्नमुक्तावलीव्रतचित्रम्

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
1 1 1
1 2 1 3 1 4 1 5 1 6 1 7 1 8 1 9 1 10 1 11 1 12 1 13 1 14 1
15 1 16

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 ! 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
1 1 1
1 15 1 14 1 13 1 12 1 11 1 10 1 9 1 8 1 7 1 6 1 5 1 4 1 3
1 2 1

(चित्र संख्या 12)

कनकावलीव्रतचित्रम्

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
1 2 3 3 3 3 3 3 3 3 3 1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
1 1 1
3 3 3 3 3 3 3 3 3 3 3 3 3 3 3 3 3 3 3 3 2 3 3 3 3 3 3 3
16 3 3

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
1 1 1 1
3 3 3 16 15 14 13 12 11 10 9 8 7 6 5 4 3 2 1 3 3 3 3 3 3 3
3 3 2 1

(चित्र संख्या 13)

सिंहनिष्क्रीडितव्रतचित्रम्

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
1 2 1 3 2 4 3 5 4 5 5 4 5 3 4 2 3 1 2 1

(चित्र संख्या 14)

मध्यम सिंहनिष्क्रीडितव्रतचित्रम्

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1

1 2 1 3 2 4 3 5 4 6 5 7 6 8 7 8 9

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1

8 7 8 6 7 5 6 4 5 3 4 2 3 1 2 1

(चित्र संख्या 15)

उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडितव्रतचित्रम्

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1

1 2 1 3 2 4 3 5 4 6 5 7 6 8 7 9 8 10 9 11 10 12 11

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1

13 12 14 13 15 14 15 16 15 14 15 13 14 12 13

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1

11 12 10 11 9 10 8 9 7 8 6 7 5 6 4 5 3 3 2 3 1 2 1

(चित्र संख्या 16)

मेरुपंक्तिव्रत चित्रम्

—पाण्डुक

1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1

0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0

0   0   0   0   0

—सौमनस

1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1

0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0

0   0   0   0   0

—नन्दन

1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1

0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0

0   0   0   0   0

—भद्रशाल

1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1   1 1 1 1 1

0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0   0 0 0 0 0

0   0   0   0   0

(चित्र संख्या 17)

विमानपंक्तिव्रतचित्रम्

(चित्र संख्या 18)

शातकुम्भव्रतचित्रम्

1	1	1	1	1	1	1	1	1	1	1	1	1	1	1	1	1
5	4	3	2	1	4	3	2	1	4	3	2	1	4	3	2	1

(चित्र संख्या 19)

मध्यम शातकुम्भव्रतचित्रम्

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
9 8 7 6 5 4 3 2 1 8 7 6 5 4 3 2 1
1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
8 7 6 5 4 3 2 1 8 7 6 6 4 3 2 1

(चित्र संख्या 20)

उत्कृष्ट शातकुम्भव्रतचित्रम्

1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
16 15 14 13 12 11 10 9 8 7 6 5 4
1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
3 2 1 15 14 13 12 11 10 9 8 7
1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
6 5 4 3 2 1 15 14 13 12 11 10 9
1 11 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
8 7 6 5 4 3 2 1 15 14 13 12 11
1 1 1 1 1 1 1 1 1 1
10 9 8 7 6 5 4 3 2 1

(चित्र संख्या 21)

कवलचान्द्रायणव्रतचित्रम्	उपवास	
उपवास 15	0	उपवास 15
कवल 14		कवल 14
कवल 13		कवल 13
कवल 12		कवल 12
कवल 11		कवल 11
कवल 10		कवल 80
कवल 9		कवल 9
कवल 8		कवल 8
कवल 7		कवल 7
कवल 6		कवल 6
कवल 5		कवल 5
कवल 4		कवल 4
कवल 3		कवल 3
कवल 2		कवल 2
कवल 1		कवल 1
उपवास		उपवास

(चित्र संख्या 22)

द्वितीय परिशिष्ट

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

(क) आधार साहित्य

1. हरिवंश पुराण : पण्डित दरबारीलाल न्यायतीर्थ द्वारा सम्पादित, : माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थमाला हीराबाग : बम्बई द्वारा प्रकाशित।
2. हरिवंश पुराण : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

(ख) प्रमाण साहित्य

3. अग्नि पुराण : पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित तथा बंगवासी प्रेस कलकत्ता द्वारा प्रकाशित।
4. अथर्ववेद : सायणभाष्योपेत, श्रीपाद सातवलेकर, श्रीपाद स्वाध्याय मण्डल पार्डी, 1957।
5. अमरकोष · वीर झलकीकर द्वारा सम्पादित, बम्बई 1907।
6. अभिज्ञानशाकुन्तल : कालिदास विरचित।
7. अष्टपाहुड़ : आचार्य कुन्दकुन्द, श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, 62, धनजी स्ट्रीट, बम्बई—3।
8. अनेकान्त और स्याद्वाद : उदयचन्द्र शास्त्री, श्रीगणेशप्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थमाला, 1।128, डुमरावबाग बसति, वाराणसी—5।
9. अथर्ववेदीयव्रात्यकाण्डं : सम्पूर्णानन्द, श्रुति-प्रभा टीका।
10. आचारांग निर्युक्ति : आचार्य भद्रबाहु।
11. आचारांग : चूर्णि, जिनदास गणि, रतलाम 1941।
12. अयोगव्यवच्छेदिका : टीका–शीलांक, सूरत 1935।
13. अनुत्तरोपपातिकदशा : (अणुत्तरोववाइयदसाओ)
    – सम्पादक, पी० एल० वैद्य, पूना 1932।
    – टीका, अभयदेव, अहमदाबाद 1932।

14. अनुयोगद्वार : आर्यरक्षित—चूर्णि जिनदास गणि।
15. अन्तःकृदशा : (अन्तगड्दसाओ)
– सम्पादक पी० एल० वैद्य, पूना।
16. अल्टेकर ए० एस० : पोजीशन, आफ वुमन इन ऐनसियन्ट इण्डिया वाराणसी 1958।
17. आदिपुराण : पुष्पदन्त, माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई 1937।
18. आचारांग निर्युक्ति : आचार्य भद्रबाहु।
19. आचारांग चूर्णि : जिनदासगणि।
20, आवश्यक निर्युक्ति :
21 आवश्यक चूर्णि :
22. आगम साहित्य में भारतीय समाज : डॉ० जगदीश चन्द्र जैन।
23 आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ :
24. आप्तमीमांसा : देवागम स्तोत्र, आचार्य समन्तभद्र, अनन्त कीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई।
25. आचार्य हेमचन्द्र और उनका हेम शब्दानुशासन : डा० नेमिचन्द शास्त्री (चौखम्बा प्रकाशन)
26. आप्टे वी० एस० : स्टुडेन्टस् संस्कृत इंगलिश डिक्सनरी।
27. इण्डियन एण्टी क्वेरी :
28. इण्डियन फिलासफी भाग—1 : डा० राधाकृष्णन्।
29. ईशावास्योपनिषद् : शांकरभाष्योपेता।
30. उत्तर पुराण : आचार्य गुणभद्र।
31. उत्तराध्ययन निर्युक्ति :
32. उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन : मुनिश्री नथमलजी।
33. ऋग्वेद : सायणभाष्योपेतः (चौखम्बा प्रकाशन)।
34. ऋषभदेव एक परिशीलन :
35. ऋषभदेव चरित्र :
36. एतरेयब्राह्मण : हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित।

37. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर — वेबर।

38. औपपातिक : टीका अभयदेव।

39. कल्पसूत्र — भद्रबाहु, पं० पुण्यविजयजी सम्पादित।

40. कल्पसूत्र — निर्युक्ति

41. कल्पसूत्र — चूर्णी

42. कल्पसूत्र — देवेन्द्र मुनि शास्त्री

43. कुवलयमाला

44. काव्यालकार

45. कसायपाहुड़ — गुणधराचार्य भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, चौरासी मथुरा।

46. कार्तिकेयानुप्रेक्षा — स्वमिकार्तिकेय, श्रीमद् रायचन्द्र अश्राम आगस।

47. कुमारसम्भव — कालिदासप्रणीत।

48. कौटिल्यार्थशास्त्र — चौखम्बा–प्रकाशित, आर० एम० शास्त्री द्वारा सम्पादित मैसुर 1924।

49. कथासरितसागर — दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित बम्बई 1929।

50. कादम्बरी — मथुरानाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित. निर्णय सागर प्रेस बम्बई।

51. कुर्म पुराण — पचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित, तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता।

52. काणे० पी० वी० : हिस्ट्री आफ धर्म शास्त्र

53. कीथ० ए०बी० और मैकडानल : वैदिक इन्डेक्स भाग 1–2 (हिन्दी) अनुवाद रामकुमार राय, चौखम्बा, वाराणसी 1962।

54. गोपथ ब्राह्मण : राजेन्द्रलाल मित्र, एच० विद्याभूषण, कलकत्ता 1872।

55. गरुड़ पुराण : क्षेमराज श्रीकृष्ण द्वारा प्रकाशित बम्बई 1906।

56. गौतम धर्मसूत्र : हरदत्तभाष्य के साथ हरिनायण आप्टे द्वारा सम्पादित, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज, पूना–1910।

57. गौतम धर्मसूत्र , हरिनायण आप्टे द्वारा सम्पादित, पूना–1910।

58. चउप्पन्न महापुरुष चरियं

59. चरक संहिता : हिन्दी अनुवाद, जयदेव विद्यालंकार, लाहौर, विक्रम सम्वत् 1919—'3

60. छांदोग्य उपनिषद् : हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना 1913।

61. जयधवला

62. जातक कथा

63. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग 1-4 : डा० मोहनलाल मेहता

64. जैन दर्शन : डा० मोहनलाल मेहता, सनमति ज्ञानपीठ, आगरा 1959।

65. जैन दर्शन : महेन्द्रकुमार जैन-गणेश प्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थमाला, काशी 1955

66. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

67. जैन साहित्य संशोधक

68. जैन दर्शन : पण्डित बेचारदास

69. जैन जरनल कलकत्ता प्रकाशन

70. जैन धर्म का मौलिक इतिहास (तीर्थंकर खण्ड) : आचार्य हस्तीमल, जैन इतिहास समिति, लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर—3।

71 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 1,2,3,4, : श्री जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली ।

72. जम्बूस्वामि चरिउ : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

73. जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी।

74. तत्वार्थसूत्र उमास्वाति।

75. तत्वार्थ राजवार्तिक : अकलंक।

76. तत्वार्थसूत्र श्रुतसागरीयवृत्ति

77. ताण्ड्य महाब्राह्मण : सायणभाष्य।

78. तैत्तियारण्यक सायणभाष्य सहित, हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना 1898।

79. तैत्तिरीयोपनिषद् : शांकरभाष्योपेता।

80. तिलोयपण्णत्ति : यति वृषभाचार्य, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर।

81. दशवैकालिक : शय्यंभव।
82. दशवैकालिक : आगस्त्यसिंह चूर्णी।
83. देवी भागवत पुराण : कमल कृष्ण स्मृति भूषण द्वारा सम्पादित, बिबलोथेका इण्डिका, कलकत्ता 1903।
84. द्रव्य संग्रह : नेमिचन्द्र शास्त्री सिद्धान्त चक्रवर्ती, आरा 1917।
85. द्वादशानुप्रेक्षा : आचार्य कुन्दकुन्द।
86. धवला (षट् खंडागम) : आचार्य वीरसेन, जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती।
87. धर्म और दर्शन : देवेन्द्र मुनि।
88. निशीथ चूर्णी : उपाध्याय अमर मुनि सम्पादित।
89. नय चक्र : माइल्ल धवल, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशित, दिल्ली।
90, न्यायदीपिका : अभिनव धर्मभूषण यति वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।
91. निरूक्तम : यास्कप्रणीतम्।
92. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय : अमृतचन्द्र।
93. पद्मपुराण : रविषेणाचार्य।
94 पदमपुराण : हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना 1893।

99. पातंजल योग दर्शन : पतंजलि।
96. पंचाध्यायी : पण्डित राजकमल।
97. पंचास्तिकाय संग्रह : आचार्य कुन्दकुन्द।
98. प्रवचन सार : आचार्य कुन्दकुन्द।
99. फरक्युहर, जे०एन० : आउट लाइन आफ रिलिजियस लिट्रेचर आफ इण्डिया।
100. वृहद् नयचक्र : देवसेनाचार्य. माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला. बम्बई।
101. बत्तीसियां : सिद्धसेन।
102. ब्रह्मसूत्र : भास्कराचार्य भाष्य सहित–विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 1915।
103. बृहदारण्यकोपनिषद् : शंकराचार्य भाष्य, हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना 1914।
104. ब्रह्मधर्म पुराण : कलकत्ता, विक्रम सम्वत् 1914।

105 ब्रह्म पुराण : क्षेमराज श्रीकृष्ण द्वारा प्रकाशित, बम्बई 1906।
106. ब्रह्मवैवर्त पुराण : क्षेमराज श्रीकृष्ण द्वारा प्रकाशित, बम्बई 1906।
107. ब्रह्माण्ड पुराण : क्षेमराज श्रीकृष्ण द्वारा प्रकाशित, बम्बई 1906।
108. भागवत पुराण : पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता विक्रम सम्वत् 1915।
109. भाररतीय संस्कृति : साने गुरुजी।
110. भारतीय संस्कृति : शिवदत्तज्ञानी।
111. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : डा० हीरालाल जैन।
112. भारतीय दर्शन : उमेश मिश्र।
113. महापुराण आचार्य जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशित, दिल्ली।
114. महावीर जयन्ती स्मारिका : 1964 व 1968. राजस्थान जैन सभा, घी वालों का रास्ता, जयपुर-3।
115. मत्स्य पुराण : हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना 1907।
116 मनुस्मृति : कुल्लूक भट्टीका सहिता, पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित तथा बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, विक्रम संवत् 1920।
117. मनुस्मृति : गंगानाथ झा द्वारा सम्पादित सोसाइटी आफ बंगाल द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता 1932।
118. महाभारत : गीता प्रेस।
119. मार्कण्डेय पुराण : क्षेमराज श्रीकृष्ण द्वारा प्रकाशित, बम्बई।
120. मोक्ष मार्ग प्रकाशक : पण्डित टोडरमल, श्रीदिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)।
121. मेक्डानल. ए०ए० : वैदिक माईथोलोजी।
122. मजुमदार. आर०सी० एण्ड पुसाल्कर. ए०डी० : दि वैदिक एज, बाम्बे।
123. मेक्समुलर. एफ० : इण्डिया वाट केन टीच अस।
124. मेक्समुलर. एफ० : स्केयंड बुक आफ दि ईस्ट।
125. मेक्समुलर. एफ० : दि सिक्स सिस्टमस् आफ इण्डियन फिलासफी।
126. यजुर्वेद

127. योगचिन्तामणि	
128. युक्त्यानुशासन	आचार्य समन्तभद्र, वीर सेवा मन्दिर,
129. याज्ञवल्क्य स्मृति	वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री द्वारा सम्पादित बम्बई-4 1928।
130. योगसार	अमितगति, जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
131. रत्नकरण्डश्रावकाचार	आचार्य समन्तभद्र।
132. रयणसार	आचार्य कुन्दकुन्द।
133. राजवार्तिक	आचार्य अकलकदेव भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशित. दिल्ली।
134. रामचरितमानस	तुलसीदासजी।
135. रघुवंश	कालिदास विरचित।
136. लघीयस्त्रय टीका	आचार्य अकलंक।
137. वेदान्त दर्शन	शांकरभाष्यसहितम्
138. वैशेषिक दर्शन	
139. विनयपिटक	
140. विष्णुपुराण	पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित, बगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता।
141. वायु पुराण	हरिनारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना 1975।
142. वाल्मीकिरामायण	चौखम्बा-प्रकाशित।
143. वैदिक इन्डेक्स	मेक्डानल और कीथ, चौखम्बा प्रकाशित।
144. वैदिक साहित्य और संस्कृति	बलदेव उपाध्याय।
145. वसुदेवहिण्डी	
146. वैद्य. सी०वी०	हिस्ट्री आफ मिडायिवल हिन्दू इण्डिया।
147. विण्टरनित्स. एम०	हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, युनिवर्सिटी आफ
148. सम्मतितर्क	सिद्धसेन दिवाकर- पूजाभाई जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1932।
149. संस्कृति के चार अध्याय	: दिनकर।
150. संस्कृति के अंचल में	: देवेन्द्र मुनि।

13— 26

151. श्रमण और संस्कृति : उपाध्याय अमर मुनि।
152. स्कन्द पुराण : बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित,

153. स्याद्वाद मंजरी : डॉ० जगदीश चन्द्र।
154. स्थानांग : टीका अभयदेव, अहमदाबाद, 1937।
155. सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।
156. समवायांग : टीका अभयदेव, अहमदाबाद, 1938।
157. समवायांग : मुनि कन्हैया लाल कमल।
158. सूत्रकृतांग : टीका शीलांक, आगमोदय समिति, बम्बई 1937।
159. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द।
160. समयसार कलश : आचार्य अमृतचन्द्र।
161. स्वयंभूस्तोत्र : आचार्य समन्तभद्र, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा।
162 स्याद्वादमंजरी : हेमचन्द्राचार्य।
163. समाधिशतक : आचार्य पूज्यपाद, अखिल विश्व जैन मिशन, अलीगंज (यू०पी०)
164. सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।
165. सामवेद : सायणभाष्योपेत।
166. सौर पुराण : पूना 1914।
167. शिवपुराण : बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित कलकत्ता

168. शतपथ ब्राह्मण : सायणभाष्य, ए०वेबर द्वारा सम्पादित 1924।

169. श्लोकवार्तिक : आचार्य विद्यानन्दि।
170. षड् दर्शन समुच्चय :
बृहद्वृत्ति एवं लघुवृत्ति
171. हिन्दी विश्व कोष :
172. हेमकाव्यशब्दानुशासन : हेमचन्द्राचार्य।

173. हाजरा, आर०सी० : स्टडीज इन दि पुराणिक रिकार्ड्स् आन हिन्दू रिटस् एण्ड कस्टमस 1940।

174. हाजरा, आर०सी० : स्टडीज इन दि उप-पुराणाज वाल्युम-1 कलकत्ता 1960, एण्ड वाल्युम-II, 1963।

175. हाप्किन्स, ई०डब्ल्यु० : रिलीजन्स आव दि इण्डिया, लन्दन 1889।

176. हर्ष चरित : फूरहर द्वारा सम्पादित, बम्बई 1909।

177. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र : आचार्य हेमचन्द्र।

178. ज्ञातधर्म कथा : टीका अभयदेव आगमोदय समिति, बम्बई 1919।

———— ——